श्रमण

जुलाई-सितम्बर १९९६
वर्ष ४७] [अंक ७-९

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अंक ७-९] *[जुलाई-सितम्बर, १९९६*

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक मण्डल
डॉ० अशोक कुमार सिंह
डॉ० शिवप्रसाद
डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

प्रधान सम्पादक
श्रमण
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई०टी०आई०मार्ग, करौंदी
पो०ऑ०—बी०एच०यू०
वाराणसी — २२१००५
दूरभाष : ३११४६२
फैक्स : ०५४२ — ३११४६२

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० ६०.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० ५०.००
एक प्रति	:	रु० १५.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० १०००.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० ५००.००

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक सहमत हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

हिन्दी खण्ड

प्रस्तुत अङ्क में

		पृष्ठ
१.	जैन आगम और गुणस्थान सिद्धान्त, —*डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय*	३-१४
२.	जैन धर्म और प्रयाग, —*डॉ० कृष्णपाल त्रिपाठी*	१५-२२
३.	जीरापल्लीगच्छ का इतिहास, —*डॉ० शिवप्रसाद*	२३-३३
४.	आधुनिक विज्ञान, ध्यान एवं सामायिक, —*डॉ० पारसमल अग्रवाल*	३४-४३
५.	त्रिरत्न, सर्वोदय और सम्पूर्ण क्रान्ति, —*डॉ० धूपनाथ प्रसाद*	४४-४८
६.	महात्मा गाँधी का मानवतावादी राजनीतिक चिन्तन और जैन-दर्शन : एक समीक्षात्मक विवेचन, —*डॉ० उषा सिंह*	४९-५४
७.	भक्त प्रत्याख्यानः सल्लेखना, —*आचार्य विद्यानन्द मुनि*	५५-५८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जैन आगम और गुणस्थान सिद्धान्त

डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय

जैनदर्शन में गुणस्थान सिद्धान्त व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने वाला सिद्धान्त है। गुणस्थान 'गुण' और 'स्थान' इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है— गुणों के स्थान। यहाँ गुण का अर्थ साधारण नैतिक गुण नहीं बल्कि प्रस्तुत सन्दर्भ में यह आत्मा के स्वभाव अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अर्थ में प्रयुक्त है।[१] इसप्रकार गुणस्थान का अर्थ हुआ— ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप स्वभाव विशेष आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाएं और गुणस्थान सिद्धान्त का अर्थ हुआ— आत्मा के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में साधक की विकास यात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण प्रस्तुत करने वाला सिद्धान्त।

गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमों में नहीं मिलता। वहाँ गुणस्थान के बदले जीवस्थान शब्द का प्रयोग देखने में आता है। समवायांगसूत्र में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्म विशुद्धि बताते हुए चौदह जीवस्थानों का उल्लेख किया गया है। समवायांग की अभयदेव टीका में अभयदेवसूरि ने ज्ञानावरणादि कर्मविशुद्धि की गवेषणा के अनुसार चौदह जीवस्थान-जीवभेद माना है (समवायांग, समवाय १४ की अभयदेव टीका)। उनके अनुसार आगमों में जिन चौदह जीवस्थानों के नामों का उल्लेख है, वे ही नाम गुणस्थानों के हैं। ये चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से बनते हैं तथा परिणामी और अपरिणामी में अभेदोपचार होने से जीव स्थान ही गुणस्थान कहे जाते हैं। षट्खण्डागम (ईसा की पांचवीं शती) में गुणस्थान के बदले जीवसमास शब्द का प्रयोग मिलता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कर्म के उदय से उत्पन्न गुण औदयिक, उपशम से उत्पन्न गुण औपशमिक, क्षयोपशम से उत्पन्न गुण क्षयोपशमिक, क्षय से उत्पन्न गुण क्षायिक तथा इनके बिना स्वभावत: उत्पन्न होने वाला गुण पारिणामिक है। इन गुणों के सहचारी होने से जीव को भी गुण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जीव के गुणों के लिए जीवस्थान या जीवसमास शब्द का प्रयोग भी मिलता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी गुणस्थान के बदले जीवसमास शब्द का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसप्रकार हम देखते हैं कि आगमों में यद्यपि गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है, लेकिन आगमोत्तरकालीन टीकाकारों एवं आचार्यों को गुणस्थान शब्द से जो अर्थ अभिप्रेत है वही अर्थ आगमकालीन जीवस्थान शब्द का है। दोनों शब्दों का आशय एक ही है।

जहाँ तक आगमों में गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा का प्रश्न है, प्राचीन स्तर के जैनागमों, यथा— आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम समवायांग[२] में इसका उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि चौदह गुणस्थानों का नाम-निर्देश है किन्तु वहाँ उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान कहा गया है। समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के चौदह नामों का निर्देश आवश्यक निर्युक्ति में हुआ है[३] किन्तु वहाँ भी उन्हें गुणस्थान (गुणठाण) नहीं कहा गया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मूल आवश्यकसूत्र जिसपर यह निर्युक्ति है केवल चोद्दसहिं भूयगामेहिं के रूप में १४ भूतग्रामों की ही चर्चा करता है। निर्युक्ति में उन चौदहभूत ग्रामों के विवरण के पश्चात् १४ गुणस्थानों का विवरण दिया गया है। यह विवरण आवश्यकनिर्युक्ति की प्रतिक्रमण निर्युक्ति में गाथा संख्या १२८७ के पश्चात् की दो गाथाओं में चोद्दसहिं भूयगामेहिं के बाद उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि ये दोनों गाथाएँ परवर्तीकाल में, आवश्यकनिर्युक्ति में प्रक्षिप्त की गई हैं। आवश्यकनिर्युक्ति पर आठवीं शताब्दी की हरिभद्र की टीका में इन गाथाओं को निर्युक्ति गाथा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है अपितु जीवसमास की चर्चा के प्रसंग में इन्हें संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया गया है।[४] हरिभद्र के इस संकेत से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ये गाथाएँ मूलतः संग्रहणी गाथाएं हैं और संग्रहणीसूत्र चाहे भाष्य और चूर्णियों के पूर्व निर्मित हुए हों, किन्तु वे निर्युक्तियों से तो परवर्ती ही हैं। इससे यह फलित होता है कि चौदह गुणस्थानों का सर्वप्रथम निर्देश संग्रहणीसूत्र में हुआ होगा और वहीं से वलभी वाचना के समय या कुछ समय पश्चात् समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति में आया होगा। अतः प्राचीन निर्युक्तियों के रचनाकाल तक भी गुणस्थान की अवधारणा अस्तित्व में नहीं थी।

दिगम्बर परम्परा के कसायपाहुड (चौथी-पांचवीं शती) एवं तत्त्वार्थसूत्र (दूसरी-चौथी शती) और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में कहीं भी गुणस्थान की अवधारणा का सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि गुणस्थान के बीज इन ग्रन्थों में माने जा सकते हैं। षट्खण्डागम[५] (पांचवीं शती) में चौदह गुणस्थानों का नाम निर्देश तो है किन्तु उन्हें गुणस्थान के नाम से अभिहित न कर जीवसमास कहा गया है। दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों, यथा- मूलाचार[६], भगवतीआराधना, तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की टीका सर्वार्थसिद्धि[८], भट्ट अकलंक के राजवार्तिक[९], विद्यानन्दि के श्लोकवार्तिक[१०] आदि टीकाओं में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा के आगमोत्तर ग्रन्थों आवश्यकचूर्णि[११], तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेनगणि (चौथी शताब्दी) की वृत्ति[१२],

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हरिभद्र की तत्त्वार्थसूत्र की टीका[१३] आदि में गुणस्थान सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि उमास्वाति (तीसरी-चौथी शताब्दी) जो अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म और दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डालते हैं, गुणस्थान का कहीं उल्लेख भी नहीं करते। यहाँ तक कि उनकी स्वोपज्ञटीका में भी गुणस्थान की अवधारणा का कहीं उल्लेख नहीं है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उमास्वाति के काल तक गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि हुआ था तो उमास्वाति ने तत्त्वार्थ में इस सिद्धान्त का जिक्र क्यों नहीं किया जबकि वे गुणस्थान सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यवहृत कुछ पारिभाषिक शब्दों यथा बादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह आदि का स्पष्टतया उल्लेख करते हैं। यह कहना कि ग्रन्थ के विस्तारभय के कारण हो सकता है उन्होंने गुणस्थान सिद्धान्त की व्याख्या न की हो, समुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ग्रन्थ के विस्तारभय की चिन्ता उन्हें रही होती तो तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बे सूत्र की रचना नहीं किये होते। फिर तत्त्वार्थभाष्य तो उनका एक व्याख्यात्मक ग्रन्थ है, यदि उनके सामने गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा रही होती तो उसका उल्लेख उन्होंने अवश्य ही किया होता। इससे दो बातें प्रतिफलित होती हैं— एक तो यह कि तत्त्वार्थभाष्य उमास्वाति की ही स्वोपज्ञटीका है क्योंकि यदि यह उमास्वाति की स्वोपज्ञ टीका न होती तो तत्त्वार्थ की अन्य श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं की भाँति उसमें गुणस्थान की अवधारणा का प्रतिपादन कहीं न कहीं अवश्य होता और दूसरी यह कि उमास्वाति के काल अर्थात् तीसरी-चौथी शती तक गुणस्थान सिद्धान्त अस्तित्व में नहीं आया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर पांचवीं शताब्दी के बीच के समय में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया। इस बात की पुष्टि समवायांग और षट्खण्डागम जो लगभग समकालीन हैं, में क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास के रूप में इसके उल्लेख से स्पष्ट है। श्वेताम्बर परम्परा के लगभग इसी काल के ग्रन्थों में प्रथम आवश्यकचूर्णि और उसके पश्चात् सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति तथा हरिभद्र की आवश्यक निर्युक्ति की टीका में इस सिद्धान्त को गुणस्थान के नाम से उल्लिखित किया गया है।

दिगम्बर परम्परा के कसायपाहुड में गुणस्थान की अवधारणओं से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति तो देखी जाती है किन्तु उसमें १४ गुणस्थानों की सुव्यवस्थित अवधारणा अनुपस्थित है। मूलाचार में गुण नाम से इस सिद्धान्त की १४ अवस्थाओं का उल्लेख है। भगवती आराधना में एक साथ सभी गुणस्थानों का उल्लेख तो नहीं है, लेकिन ध्यान के प्रसंग में ७वें से लेकर १४वें गुणस्थान तक की विस्तृत चर्चा की गई है। उसके पश्चात् पूज्यपाद देवनन्दी की सवार्थसिद्धि टीका में गुणट्ठाण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तृत वर्णन मिलता है।[१४] आचार्य कुन्दकुन्द (७वीं शती) ने नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। किन्तु कुन्दकुन्द ने जीवठाण शब्द का प्रयोग जीवों के जन्मग्रहण की विविध योनियों के अर्थ में किया है। इससे यह भी फलित होता है कि मूलाचार, भगवती आराधना तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग और स्पष्ट धारणाएँ बन चुकी थीं। चूँकि उपर्युक्त सभी ग्रन्थ पांचवीं शताब्दी के बाद के हैं अत: एक बात तो निश्चित हो जाती है कि पांचवीं शताब्दी के बाद ही गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई और इसीकाल में गुणस्थान के कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, विपाक आदि से सम्बन्ध निश्चित किये गये। चूँकि गुणस्थानों के साथ कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा आदि की चर्चा सर्वप्रथम प्राचीन कर्म ग्रन्थों में ही पाई जाती है और कर्मप्रकृति तथा प्राचीन कर्मग्रन्थ लगभग छठी-सातवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं अत: गुणस्थान सिद्धान्त के विकास काल को पांचवीं से सातवीं शताब्दी के मध्य स्थिर किया जा सकता है। चूँकि गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विकसित सिद्धान्त दिगम्बर परम्परा के गोम्मटसार में पाया जाता है, जो लगभग १०वीं शताब्दी की रचना है अत: इसके विकास का काल पांचवीं से दसवीं शताब्दी माना जा सकता है।

गुणस्थान सिद्धान्त की पूर्व अवस्थाएँ

जाहिर है कि यह गुणस्थान सिद्धान्त शून्य से उत्पन्न नहीं हुआ होगा, उसकी कुछ पूर्वावस्थाएँ भी रही हैं। गुणस्थान सिद्धान्त की सबसे निकटवर्ती पूर्व अवस्था तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विकास की निम्न दस अवस्थाएँ हैं—

१. सम्यग्दृष्टि, २. श्रावक, ३. विरत, ४. अनन्तानुबन्धिवियोजक, ५. दर्शन मोह क्षपक, ६. उपशमक, ७. उपशान्तमोह, ८. क्षपक, ९. क्षीणमोह और १०. जिन।[१५]

इन अवस्थाओं में मिथ्यादृष्टि, शाश्वादन, मिश्र और अयोगी केवली इन चार अवस्थाओं को छोड़कर गुणस्थान के शेष दस अवस्थाओं के पूर्वरूप इनमें देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में भी ये अवस्थाएँ किसी आगमिक आधार से ही ली गई होगीं। इस सम्बन्ध में जैनदर्शन के बहुश्रुत विद्वान् प्रो. सागरमल जैन की मान्यता है कि इन दस अवस्थाओं का आगमिक आधार आचारांगनिर्युक्ति के सम्यक्त्व अध्ययन की निर्युक्ति में पाया जाता है।[१६] वे निर्युक्ति गाथाएं निम्न हैं—

सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मसे ।
दंसणमोहक्खवए उवसामन्ते य उवंसते ।।

खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा ।
तव्विवरीओ कालो संखिज्ज गुणाइ सेढीए ।।

आचारांग निर्युक्ति, पृ. ४४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस निर्युक्ति में प्रयुक्त शब्द यह संकेत देते हैं कि गुणस्थान सिद्धान्त का आगमिक मूल ये निर्युक्ति गाथाएं ही हैं। निर्युक्ति से यह अवधारणा तत्त्वार्थसूत्र में गई और तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पश्चात् इन्हीं दस अवस्थाओं से गुणस्थान की चौदह अवस्थाओं का विकास हुआ। यद्यपि इन दस अवस्थाओं का वर्णन कुछ परवर्ती ग्रन्थों में भी पाया जाता है। षट्खण्डागम के वेदनाखण्ड की चूलिका में भी इन गाथाओं को अन्यत्र आधार से अवतरित किया गया है और वहीं से धवलाटीका और गोम्मटसार में भी ये गाथाएँ गई हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा[१७] में 'निर्जरानुपेक्षा' अन्तर्गत उपरोक्त १० अवस्थाओं के स्थान पर १२ अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। ये हैं—

१.मिथ्यात्वी, २. सम्यग्दृष्टि, ३. अणुव्रतधारी, ४. महाव्रती, ५. प्रथम कषाय चतुष्क वियोजक, ६. क्षपकशील, ७. दर्शनमोहत्रिक, (क्षीण), ८. कषाय चतुष्क उपशमक, ९. क्षपक, १०. क्षीणमोह, ११. सयोगीनाथ और १२. अयोगीनाथ।

इसी प्रकार कसायपाहुड में गुणस्थान सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख न होते हुए भी लगभग १३ अवस्थाओं का चित्रण उपलब्ध हो जाता है। उसमें कार्तिकेयानुप्रेक्षा की अपेक्षा एक मिश्र अवस्था का उल्लेख अधिक पाया जाता है।

जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें आचारांगनिर्युक्ति के पश्चात् शिवशर्मसूरि (ई. सन् ५वीं शती) कृत कर्म-प्रकृति में यह सिद्धान्त पाया जाता है। यद्यपि इसमें 'जिणे य दुविहे' कहकर सयोगी केवली और अयोगी केवली, ऐसे दो प्रकार के जिनों की अवधारणा का सूचन किया गया है। इस प्रकार इसमें १० के स्थान पर ११ गुणश्रेणियाँ मान ली गई हैं। इसके पश्चात् इन अवस्थाओं का वर्णन चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रह[१८] (ई. सन् आठवीं शताब्दी के पूर्व) के बन्धद्वार के उदय निरूपण में मिलता है। इसमें भी सयोगी केवली और अयोगी केवली ये दो विभाग स्वीकार किये गये हैं और १०वीं अवस्था के विभाजन से गुणश्रेणी की संख्या १० से बढ़कर ११ हो गयी। इन समस्त चर्चाओं से यह फलित होता है कि गुणस्थान सिद्धान्त के विकास का मूल आधार ये गुण श्रेणियाँ ही हैं। इन गुणश्रेणियों की गुणस्थानों से किस प्रकार समानता है यह निम्न तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट हो जाता है।

समवायांग में कर्मोंकी विशुद्धि की मार्गणा की अपेक्षा से १४ जीवस्थान प्रतिपादित किये गये है। समवायांग की इस चर्चा को यदि हम तत्त्वार्थ से तुलना करते हैं तो पाते हैं कि उसमें भी कर्मनिर्जरा की अपेक्षा से १० अवस्थाओं का चित्रण किया गया है। 'कम्मविसोही मग्गणं' (समवायांग, समवाय -१४) एवं 'असंख्येय गुणनिर्जरा' (तत्त्वार्थ, ४७) शब्द तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समवायांग में 'सुहुं सम्पराय' के पश्चात् 'उपसामए' और खवए का प्रयोग तत्त्वार्थ के उपशमक, उपशान्त और क्षपक शब्दों को ध्वनित करता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि समवायांग के उस काल तक श्रेणी विचार आ गया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध आध्यात्मिक विकास की चर्चा को यदि हम गुणस्थान के सन्दर्भ में देखें तो पाते हैं कि कुछ अर्थों में भिन्नता को छोड़कर तत्त्वार्थ में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है उसकी गुणस्थान क्रम से काफी समानता है। नवें अध्याय में सर्वप्रथम परीषहों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विकास की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि बादर सम्पराय की स्थिति में २२ परीषह होते हैं।[२०] इसी प्रकार सूक्ष्म सम्पराय और छद्मस्थ वीतराग (क्षीणमोह) में १४ परीषहों की चर्चा है तथा जिन भगवान् के ११ परीषहों की चर्चा तत्त्वार्थसूत्र करता है। यहाँ बादर सम्पराय, सूक्ष्मसम्पराय, छद्मस्थ वीतराग और जिन इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है। पुन: ध्यान के प्रसंग में अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत इन तीन अवस्थाओं में अन्तर्ध्यान का सद्भाव होता है। अविरत और देशविरत में रौद्रध्यान का सद्भाव होता है। अप्रमत्त संयत को रौद्रध्यान होता है साथ ही यह उपशान्त कषाय और क्षीण-कषाय को भी होता है, ऐसी चर्चा मिलती है। शुक्लध्यान के विषय में कहा गया है कि वह उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और केवली में सम्भव होता है।[२१] इस प्रकार यहाँ अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, उपशान्त कषाय (उपशान्त मोह), क्षीणकषाय (क्षीणमोह) और केवली ऐसी सात अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है; पुन: कर्मनिर्जरा के प्रसंग में सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोह क्षपक, उपशमक, उपशान्त (चारित्र) मोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ऐसी दस विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है।[२२] यदि हम अनन्त वियोजक को अप्रमत्तसंयत, दर्शनमोह क्षपक को अपूर्वकरण, उपशमक (चारित्रमोह उपशमक) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो इस स्थिति में वहाँ दश गुण स्थानों के नाम हमें मिल जाते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक्मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली की यहाँ कोई चर्चा नहीं है।

इसी प्रकार कसायपाहुड जिसमें गुणस्थान शब्द न होकर गुणस्थान से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं, दर्शनमोह की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रमोह) और सम्यक्-दृष्टि तथा चारित्रमोह की अपेक्षा से अविरत, विरताविरत और विरत की अवधारणाओं के साथ उपशम और क्षय की उपस्थिति का भी बोध कराता है। इस प्रकार कसायपाहुड में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अधिक मिलती है। इसी क्रम में आगे मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और अयोगी केवली की अवधारणाएँ जुड़ी होंगी और उपशम और क्षपक श्रेणी के साथ गुणस्थान का एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त सामने आया होगा। अत: यह फलित होता है कि सम्यक्त्वी जीव के आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं से क्रमिक विकास होकर चौदह गुणस्थानों की अवधारणा निर्मित हुई और प्राचीन कर्म-ग्रन्थों के रचनाकाल के समय विभिन्न अनुयोगद्वारों के आधार पर विभिन्न गुणस्थानों में कर्मों के उदय, उदीरणा, बन्ध, सत्ता, आदि के सम्बन्ध में विचार हुआ। इसके पश्चात् तो गुणस्थान सिद्धान्त निरन्तर विकसित होता रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पहले कि आगम और गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा के निष्कर्ष प्रस्तुत किये जायँ, इन चौदह गुणस्थानों का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक नहीं होगा।

जैन विचारधारा नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासक्रम की १४ अवस्थाएं मानती है, जिसमें प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है। पांचवें से बारहवें गुणस्थान तक का विकासक्रम सम्यक् चारित्र से सम्बन्धित है तथा १३वां एवं १४वां गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है। इनमें भी दूसरे और तीसरे गुणस्थानों का सम्बन्ध विकासक्रम से न होकर मात्र चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम की ओर होने वाले पतन को दर्शाता है।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान—आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा की बहिर्मुखी अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा यथार्थज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। इस गुणस्थान में आत्मा १. एकान्तिक धारणाओं, २. विपरीत धारणाओं, ३. वैनयिकता (रूढ़ परम्पराओं), ४. संशय और अज्ञान से युक्त रहती है और इसलिए इसमें यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति अरुचि होती है। इस प्रथम वर्ग की सभी आत्माएं विकास की दृष्टि से समान हैं। इस गुणस्थान के अन्तिम चरण में आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक ग्रन्थि भेद की प्रक्रिया करता है और उसमें सफल होने पर विकास के अगले चरण में सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है।

२. सास्वादन—यह गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से तो विकासशील है किन्तु वस्तुतः वह आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है। दूसरे शब्दों में इस गुणस्थान में आत्मा प्रथम गुणस्थान से विकास कर नहीं आती अपितु ऊपर की श्रेणियों से पतित हुई आत्मा इस अवस्था से गुजर कर जाती है। पतनोन्मुख आत्मा को गुणस्थान तक पहुँचने की मध्यावधि में जो क्षणिक (६ अवली) समय लगता है वही इसका स्थिति काल है। पतनोन्मुख अवस्था में होने वाली यथार्थता का क्षणिक आभास या आस्वादन, सास्वादन गुणस्थान है।

३. मिश्रगुणस्थान या सम्यक्-मिथ्यादृष्टि— यह गुणस्थान भी आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का सूचक है जिसमें अवक्रान्ति करने वाली पतनोन्मुख आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर आती है। यह एक अनिश्चय की अवस्था है जिससे साधक यथार्थ बोध के पश्चात् संशयावस्था को प्राप्त हो जाने के कारण सत्य और असत्य के मध्य झूलता रहता है। वैचारिक या मानसिक संघर्ष की यह अवस्था अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) रहती है जिसमें नैतिक पक्ष विजयी होने पर व्यक्ति चतुर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में चला जाता है और जब पाशविक प्रवृत्तियाँ विजयी होती हैं तो वह यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित होकर प्रथम मिथ्या गुणस्थान में चला आता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—यह आध्यात्मिक विकास की वह अवस्था है जिसमें साधक को यथार्थता का बोध हो जाने पर भी वह पूर्व संस्कारों के कारण आत्म संयम में अवस्थित नहीं हो पाता। उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् होने पर भी आचारणात्मक पक्ष असम्यक् होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आत्मा को निम्न सात कर्मप्रकृतियों का क्षय करना पड़ता है— अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मिश्रमोह एवं सम्यक्त्वमोह। इन कर्म प्रकृतियों को नष्ट कर इस अवस्था को प्राप्त साधक का यदि सम्यक्त्व क्षायिक है तो वह विकास करता हुआ परमात्मा स्वरूप को पा लेता है, किन्तु यदि औपशमिक है तो आत्मा अन्तर्मुहूर्त के अन्दर पुनः प्रकटित वासनाओं के कारण अयथार्थता को प्राप्त हो जाता है।

५. देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—यह आध्यात्मिक विकास की तो पांचवीं पर नैतिक आचरण की दृष्टि से विकास का प्रथम स्तर है। देश विरति का अर्थ है— वासनामय जीवन से आंशिक रूप में निर्वृत्ति। इस गुणस्थान में अवस्थित साधक, साधना पथ से विचलित तो होता है लेकिन उसमें संभलने की क्षमता भी होती है। प्रमाद के वशीभूत होने पर इस क्षमता का समुचित उपयोग न कर पाने के कारण साधक अपने स्थान से गिर भी सकता है। ऐसे साधक के लिए मानसिक विकृति का परिशोधन तथा विशुद्धिकरण आवश्यक है।

६. प्रमत्त सर्वविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान— या प्रमत्त संयत गुणस्थान— सर्वविरति का अर्थ है— अशुभाचरण अथवा अनैतिक आचरण से पूर्णरूपेण विरत हो जाना। इस प्रकार यह गुणस्थान अशुभाचरण से अधिकांश रूप से विरति है। इस अवस्था में आचरणशुद्धि तो हो जाती है लेकिन विचार (भाव) शुद्धि का प्रयास चलता रहता है। इस गुणस्थानवर्ती साधक छठे और सातवें गुणस्थान के मध्य परिभ्रमण करते रहते हैं। जब वे अपने लक्ष्य के प्रति जागरुकता नहीं रख पाते तो इस गुणस्थान में आ जाते हैं पुनः लक्ष्य के प्रति जागरूक बनकर सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं।

७. अप्रमत्त संयत गुणस्थान—यह पूर्ण सजगता की स्थिति है। इसमें साधक देह में रहते हुए भी देहातीत भाव से युक्त हो आत्मस्वरूप में रमण करता हैं। कोई भी सामान्य साधक ४८ मिनट से अधिक देहातीतभाव में नहीं रह पाता, दैहिक उपाधियाँ उसे विचलित कर देती हैं, अतः गुणस्थान में अल्पकालिक निवास के बाद साधक विकास की अग्रिम श्रेणी की ओर प्रस्थान कर जाता है और देहभाव की जागृति होने पर लौटकर छठे स्थान में आ जाता है।

८. अपूर्वकरण या निवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान—यह आध्यात्मिक साधना की एक विशिष्ट अवस्था है। इस अवस्था में कर्मावरण के काफी हल्का हो जाने के कारण आत्मा एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति करती है। इस अवस्था में साधक अधिकांश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासनाओं से मुक्त होता है। मात्र बीजरूप में माया और लोभ ही शेष रहते हैं। इस अवस्था में साधक अपूर्वकरण के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की कालस्थिति एवं तीव्रता को कम करता है तथा कर्मवर्गणाओं को ऐसे क्रम में रख देता है जिसके फलस्वरूप उनका समय के पूर्व ही फलोपभोग किया जा सके। वह अशुभकर्म प्रकृतियों को शुभफल प्रदायक कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित कर देता है एवं उनका मात्र अल्पकालीन बन्ध करता है। इस प्रक्रिया को जैन पारिभाषिक शब्दों में १. स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुणसंक्रमण और ५. अपूर्वस्थिति बन्ध कहा जाता है और यह प्रक्रिया अपूर्वकरण है।

९. अनिवृत्तिकरण—जब साधक कषायों में केवल बीजरूप सूक्ष्म लोभ (संज्वलन) को छोड़कर सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है तथा उसके कामवासनात्मक भाव, जिन्हें 'वेद' कहते हैं, समूलरूपेण नष्ट हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था प्राप्त होती है।

१०. सूक्ष्म सम्पराय—इस अवस्था में साधक कषायों के कारणभूत हास्य, रति, अरति, भय, शोक और घृणा इन छः भावों को भी नष्ट (क्षय) अथवा दमित (उपशान्त) कर देता है और उसमें मात्र सूक्ष्म लोभ शेष रह जाता है। इस गुणस्थान को सूक्ष्मसम्पराय इसलिए कहा जाता है कि इसमें आध्यात्मिक पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ ही शेष रहता है।

११. उपशान्त-मोह-गुणस्थान—जब अध्यात्म मार्ग का साधक १०वें गुणस्थान में रहे हुए सूक्ष्म लोभ को भी उपशान्त कर देता है तो वह इस विकास श्रेणी में पहुँचता है। विकास की इस श्रेणी में मात्र वे ही आत्मायें आती हैं जो वासनाओं का दमन या उपशम श्रेणी से विकास करती हैं। जो क्षायिक श्रेणी से विकास करती हैं, वे सीधे बारहवें गुणस्थान में जाती हैं। यह आत्मोत्कर्ष की वह अवस्था है जिसमें से उपशम या निरोध-मार्ग का साधक स्वल्पकाल (४८) मिनट) तक इस श्रेणी में रहकर निरुद्ध वासनाओं एवं कषायों के पुनः प्रकटन के फलस्वरूप नीचे गिर जाता है। अतः यह गुणस्थान पुनः पतन का है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान—इस अवस्था में आने वाला साधक मोहकर्म की २८ प्रकृतियों को समूल नष्ट कर देता है और इसीकारण इस गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में साधक क्षायिक विधि से विकास कर पहुँचता है और इसीलिए १०वें गुणस्थान से भी वह सीधे इस गुणस्थान में आ सकता है। यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। नैतिक पूर्णता की इस अवस्था को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। इस गुणस्थान का काल एक अन्तर्मुहूर्त है। तत्पश्चात् साधक ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीनों कर्मों के आवरणों को नष्ट कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य से युक्त हो विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. सयोगी केवली गुणस्थान—इस अवस्था में पहुँचे हुए साधक के चार घाती कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय तो क्षय हो जाते हैं। चार अघाती कर्म शेष रहते हैं— आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय। इन चार कर्मों के बने रहने के कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती। योग के कारण इस अवस्था में बन्धन तो होता है लेकिन कषायों के अभाव के कारण टिकाव नहीं होता। पहले क्षण में बन्ध होता है, दूसरे क्षण में उसका विपाक होता है और तीसरे क्षण में वे कर्मपरमाणु निर्जरित हो जाते हैं। यह साधक और सिद्ध के बीच की अवस्था है। इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को अर्हत्, सर्वज्ञ एवं केवली कहा जाता है।

१४. अयोगी केवली गुणस्थान—अयोगी का अर्थ है— योग से रहित अर्थात् इस अवस्था में साधक के समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप योग का पूर्णत: निरोध हो जाता है। इस अवस्था को विदेह मुक्ति के अन्तिम प्रयत्न के रूप में माना जा सकता है। जीवनमुक्त या सयोगी केवली आयुष्यपर्यन्त शारीरिक प्रवृत्तियों को निष्काम भाव से करता रहता है लेकिन जब वह आयुष्य कर्म की समाप्ति को निकट देखता है तो शेष कर्मावरणों को समाप्त करने के लिए यदि आवश्यक हो तो प्रथम केवली समुद्घात करता है और तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान के द्वारा योग का पूर्णत: निरोध कर देता है तथा समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान द्वारा निष्क्रमण स्थिति को प्राप्त करके शरीर-त्याग कर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान का काल अत्यन्त अल्प होता है, उतना ही जितना अ, इ, उ, ऋ को मध्यम स्वर से उच्चारित करने में लगता है। इसके पश्चात् यह सर्वांगीण पूर्णता की अवस्था है अर्थात् सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है।

निष्कर्षत: हम देखते हैं कि गुणस्थान सिद्धान्त की विकास यात्रा आचारांगनिर्युक्ति में वर्णित दस अवस्थाओं से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर विकास करती हुई षट्खण्डागम में अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है। षट्खण्डागम का रचनाकाल आगम की वलभी वाचना के समकालीन ही है। अत: उसी समय यह अवधारणा संग्रहणीसूत्र में निबद्ध की गई और संग्रहणीसूत्र से ही इसे समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति में सम्मिलित किया गया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर परम्परा में संग्रहणीसूत्र में और दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम में अर्थात् ईसा की पांचवीं शताब्दी में गुणस्थान की अवधारणा अस्तित्व में आई। उसके पश्चात् कर्म-सिद्धान्त के ग्रन्थों में इसपर विभिन्न अनुयोगद्वारों के माध्यम से चिन्तन हुआ और गुणस्थान की अवधारणा का एक विकसित स्वरूप बना। दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम के पश्चात् प्राकृत पंचसंग्रह, कसायपाहुड की जयधवला टीका तथा षट्खण्डागम की धवला और महाधवला टीकाओं में इसका विकास हुआ। कर्मसिद्धान्त के साथ समन्वित करते हुए इसका पूर्ण विकास दिगम्बर परम्परा के १०वीं शताब्दी में रचित गोम्मटसार में देखा जाता है। उसके पश्चात् इस अवधारणा में कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास हुआ हो यह हमें ज्ञात नहीं होता है। कालक्रम की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि गुणस्थान सिद्धान्त की विकास यात्रा तीसरी शती से प्रारम्भ होकर दसवीं शती में अपनी पूर्णता को पहुँची।

जहाँ तक गुणस्थान सिद्धान्त और अन्य परम्पराओं का प्रश्न है, सामान्यतया हम यह कह सकते हैं कि यह जैन दार्शनिकों के अपने मौलिक चिन्तन का परिणाम है। आचारांगनिर्युक्ति में इसकी पूर्वभूमिका के रूप में जिन दस अवस्थाओं का चित्रण किया गया है, उसकी डॉ. सागरमल जैन ने बौद्धदर्शन के बोधिसत्त्व की दसभूमियों से समरूपता मानी है। इसीप्रकार पं. सुखलाल जी ने योगवाशिष्ठ में ज्ञान की सात और अज्ञान की सात- इन चौदह अवस्थाओं का जो चित्रण है, उससे समरूपता व्यक्त की है किन्तु मेरी दृष्टि में यह समरूपता मात्र संख्या की दृष्टि से या आध्यात्मिक विकास की सामान्य अवधारणा की दृष्टि से हो सकती है। इससे अधिक इन दोनों सिद्धान्तों के गुणस्थान की अवधारणा का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। इस अवधारणा का विकास वस्तुत: जैन कर्म सिद्धान्त की विशिष्ट और मौलिक अवधारणाओं से ही हुआ है। मूलत: यह मोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय की चर्चाओं से ही निर्मित है और इन चर्चाओं का आधार आगम में उपस्थित है। अत: हम यह कह सकते हैं कि गुणस्थान सिद्धान्त का विकास चाहे परवर्ती हो किन्तु आगमों पर ही आधारित है।

सन्दर्भ-सूची

१. तत्रगुणा: ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा: जीवस्वभाव विशेषा:। कर्मग्रन्थ II भाष्य

२. कम्मविसोहीमग्गणं पडुच्च उउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा मिच्छदिट्ठी; सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी, अविरय सम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसंजये, अपमत्तसंजए, निअट्टिवायरे, सुहूमसंपराएउवसामएवा, वा खवसे वा उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अजोगीकेवली। **समवायांग**, संपा. मधुकरमुनि, आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, १४/९५।

३. मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिट्ठी य।
अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य।।
तत्तो य अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टवायरे ।
उवखंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ।।
—निर्युक्ति संग्रह, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल, शान्तिपुरी (सौराष्ट्र) १९८९, पृ. १४०।

४. अधुनामुमैव गुणस्थान द्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार:। आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७७४-७८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. एदेसिचेव चोद्दसण्हं जीवसमासाण परुवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगदाराणि .....भवंति मिच्छादिट्ठी....सजोगी केवली अजोगीकेवली सिद्धाचेदि। षट्खण्डागम (सत्प्ररुपणा) प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, खण्ड-१, द्वि. सन् १९७३, पृ. १५४-२०१।

६. मूलाचार (**पर्याप्तधिकार**), माणिकचन्द दिग. ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९८०पृ. २७३-२७९,

७. अधखवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ।
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्त पुव्वंति ।।२०८७।।
अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ।
णिद्या-णिद्धा पदला पयला तध क्षीणगिद्धि च ।।२०८८।।
भगवती आराधना, भाग-२ संपा. कैलाशचन्द्र, पृ. ८९०।

८. सर्वार्थसिद्धि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५, सूत्र १-८ की टीका, पृ. ३०-४० तथा ९-१२ की टीका।

९. राजवार्तिक, ९.१०-११, पृ. ५८८

१०. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१८, देखें— गुणस्थानापेक्ष.....१०.३, गुणस्थानभेदेन ९.३६-४, पृ. ५०३, ९.३३-४४ तक की सम्पूर्ण व्याख्या।

११. आवश्यकचूर्णि— उत्तरभाग, पृ. १३३-१३६

१२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, सिद्धसेनगणिटीका, संपा. हीरालाल रसिक कापड़िया, ९.३५ की टीका।

१३. तत्त्वार्थसूत्र, नवम अध्याय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, १९८५, पृ. १३६

१४. सर्वार्थसिद्धि, संपा. फूलचन्द शास्त्री, भा. ज्ञा. पी. काशी १९५५, १-८, पृ. ३१.३३, ३४, ४६-४५, ५६, ६५-६७, ८४-८५, ८८

१५. तत्त्वार्थसूत्र ९/४७

१६. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव और विकास, श्रमण, अंक १-३, जनवरी-मार्च १९९२।

१७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका शुभचन्द्र, संपा. ए. एन. उपाध्ये, १९/१०६-१०८।

१८. कर्मप्रकृति, उदयकरण गाथा, ३९४-९५।

१९. पंचसंग्रह, बन्धद्वार, उदयनिरूपण, गाथा, १४४-११५

२०. तत्त्वार्थसूत्र/१०,११,१३

२१. तत्त्वार्थसूत्र— ९/३५-४०

२२. वही— ९/४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जैन धर्म और प्रयाग

डॉ० कृष्णपाल त्रिपाठी

गंगा, यमुना और सरस्वती के पावन संगम पर स्थित प्रयाग (इलाहाबाद) की महिमा अनन्त एवं अनिवर्चनीय है। लोकपितामह ब्रह्मा ने यहाँ शताधिक प्रकृष्ट यज्ञों का सम्पादन किया था, इसीलिए इसको प्रयाग कहा जाता है। भूमण्डल के समस्त तीर्थों में श्रेष्ठ होने के कारण यह तीर्थराज की सम्मान्य उपाधि से विभूषित है।[१] अत्यन्त प्राचीन काल से ही यह स्थान देवी, देवताओं, ऋषियों, मुनियों, सन्तों, महात्माओं के आकर्षण का प्रधान केन्द्र बना हुआ है। इन महापुरुषों ने अपने चरणरज के स्पर्श से इस भूभाग के कण-कण को अत्यन्त पवित्र एवं सेवनीय बना दिया। प्रयाग केवल पवित्र नदियों का ही नहीं, अपितु विविध धर्मों एवं संस्कृतियों का भी संगम-स्थल है। हिन्दू, जैन,बौद्ध आदि धर्मों के अनुयायी इस स्थान को अपने-अपने धर्म से सम्बन्धित एक पवित्र तीर्थ के रूप में मानते हैं। विशेषकर जैन धर्म से प्रयाग का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस धर्म से सम्बन्धित अनेक घटनायें इसी पावन भूमि में घटित हुई हैं। जैन धर्म एवं संस्कृति का प्रचार भी इस भूभाग में व्यापक स्तर पर हुआ था। अतः इन्हीं विषयों से सम्बद्ध संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है।

प्रयाग का नामकरण

जैन पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रयाग का नामकरण आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पावन चरित्र से सम्बन्धित है। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को जब विविध जनपदों का अधिपति बनाया, तब कोशलदेश के प्रमुख नगर 'पुरिमताल' का राज्य उनके पुत्र वृषभसेन को प्राप्त हुआ। नीलाञ्जना अप्सरा की असामयिक मृत्यु को देखने से भगवान् ऋषभदेव के मन में जब वैराग्य भाव उत्पन्न हुआ, तब वे जैनेश्वरीदीक्षा लेने के लिए इसी पुरिमताल नगर के समीपवर्ती सिद्धार्थवन में पधारे थे। यहाँ उन्होंने एक वटवृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख होकर पञ्चमुष्टि लोच किया और चैत्र कृष्णा नवमी को सायंकाल के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ भरत-पुत्र मरीचि सहित चार सहस्र राजा भी दीक्षित हए। इन्द्रादि देवों ने बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ प्रभ्वर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीक्षाकल्याणक मनाया। उसी समय से इस स्थान का नाम प्रयाग हो गया। आचार्य जिनसेन विरचित हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि भगवान् ने दीक्षा-स्थल पर अपनी प्रजा को समझाया कि तुम लोगों की रक्षा के लिए मैंने चतुर भरत को नियुक्त कर दिया है, तुम उसकी सेवा करो। प्रजा ने उनकी आज्ञा स्वीकार कर जिस स्थान पर प्रजापति ऋषभदेव की विदाई सम्बन्धी पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण 'प्रजाग' (प्रयाग) कहा जाने लगा।[२] आचार्य रविषेण ने इस विषय में दो मत प्रस्तुत किए हैं— प्रथम मतानुसार भगवान् ऋषभदेव प्रजा से दूर होकर उस स्थान पर गये थे, इसलिए उस स्थान का नाम प्रजाग हो गया। द्वितीय विचार के अनुसार भगवान् ने उस स्थान पर प्रकृष्ट त्याग किया था, इसलिए वह स्थान प्रयाग नाम से प्रसिद्ध हो गया।[३]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पहले तो सिद्धार्थवन का नाम प्रयाग हुआ और बाद में पुरिमताल नगर भी प्रयाग कहा जाने लगा। इसीलिए परवर्ती साहित्य में कहीं भी पुरिमतालनगर का नामोल्लेख नहीं मिलता है।

अक्षयवट

दीक्षा ग्रहण करने के बाद भगवान् छः मास पर्यन्त उसी वन में कायोत्सर्गयोग से स्थिर रहे, फिर विभिन्न देशों का विहार करने चले गये। ठीक एक सहस्र वर्षों के बाद वे पुनः पुरिमतालनगर में आये और शकटवन में एक वटवृक्ष के नीचे पर्यंकासन में विराजमान हो गये। उन्होंने ध्यानाग्नि के द्वारा अपने समस्त घातिया कर्मों का नाश कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को उत्तराषाढ़नक्षत्र में निर्मल केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्द्रादि देवों ने समवशरण की रचना की और प्रभुवर ने प्रथम धर्मोपदेश व धर्मचक्रप्रवर्तन यहीं पर किया। इसे सुनकर पुरिमतालनरेश वृषभसेन भी अनेक राजाओं के साथ आया और दीक्षा लेकर भगवान् का प्रथम गणधर बना। यहाँ जिस वटवृक्ष के नीचे भगवान् को अक्षय ज्ञान-लक्ष्मी की प्राप्ति हुई, वही वटवृक्ष 'अक्षयवट' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैन तीर्थक्षेत्रों में अक्षयवट की विशिष्ट महिमा है। नन्दिसंघ की गुर्वावली में इसको सम्मेदशिखर, चम्पापुरी आदि तीर्थों के समकक्ष बताया गया है।[४] विविधतीर्थकल्प से ज्ञात होता है कि मुस्लिम शासकों ने अक्षयवट को कई बार कटवाया किन्तु वह बार-बार पल्लवित-पुष्पित होता रहा।[५] आज भी यह भगवान् के प्रकृष्ट त्याग एवं कठोर साधना का मौन साक्षी बना इलाहाबाद किले में स्थित है। इसके दर्शन मात्र से भक्त का मन प्रभुवर की भक्ति में डूब जाता है और अक्षय पुण्य का भागी बनता है। प्राचीन तीर्थमाला संग्रह के अनुसार पहले यहाँ ऋषभदेव के चरण विराजमान थे, जिसे सोलहवीं शताब्दी में राय कल्याण नामक सूबेदार ने हटवाकर शिवलिङ्ग की स्थापना करवा दी।[६]

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैन धर्म के इतिहास में प्रयाग का नाम सर्वथा अग्रगण्य है। भगवान् ऋषभदेव का जन्म भले ही अयोध्या में हुआ हो किन्तु जैन धर्म की जन्मभूमि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो प्रयाग ही मानी जायेगी। यहीं पर भगवान् ने दीक्षा ली और केवलज्ञान प्राप्त किया। अपना प्रथम धर्मोपदेश एवं धर्मचक्रप्रवर्तन भी यहीं पर किया। इस प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्तों एवं उपदेशों का प्रथम प्राकट्य इसी पावन भूमि पर हुआ था। वृषभसेन आदि राजाओं के दीक्षित होने के आधार पर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही प्रयाग जनपद में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार आरम्भ हो गया था।

प्रयाग-स्तम्भ

इलाहाबाद किले के अन्दर एक विशाल प्रस्तर स्तम्भ खड़ा है, जिसे प्रयाग -स्तम्भ कहा जाता है। यह ३५ फुट ऊँचा और ४९३ मन भारी है इसमें प्रियदर्शी (अशोक), समुद्रगुप्त, जहाँगीर आदि सम्राटों के धर्मादेश, विजय-यात्राएँ एवं राज्याभिषेक-विवरण अंकित हैं। कहा जाता है कि इसे २३२-३५ ई० पू० में सम्राट अशोक ने अपनी उपराजधानी 'कौशाम्बी' में स्थापित कराया था, जिसे बादशाह फिरोजशाह ने उठवाकर संगम तट पर रखवा दिया। परन्तु जैन विद्वान् इसको अशोक-निर्मित नहीं मानते। उनका विचार है कि इसका निर्माण अशोक के पौत्र सम्प्रति ने कराया था। सम्प्रति जैनधर्म का प्रबल अनुयायी एवं प्रचारक था। उसने तीर्थंकरों की कल्याणक-भूमियों पर स्तम्भ, स्तूप आदि बनवाकर उस पर जैनधर्म की उदार शिक्षायें एवं धर्माज्ञाएँ अंकित करायी थीं। परन्तु कहीं भी अपना पूरा नाम न देकर केवल 'प्रियदर्शिन्' ही उल्लेखित कराया था।[७]

मौनी अमावस्या

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर जब माघ कृष्णा चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया, तब पुरिमतालनगर के निवासियों ने अमावस्या को संगम तट पर उस मौनी साधु का मोक्ष कल्याणक मनाया। इसी समय से माघी अमावस्या को मौनी अमावस्या कहा जाने लगा और उस पुनीत पर्व पर वहाँ स्नानादि का आयोजन होने लगा।

अग्निकापुत्र का निर्वाण

कल्याणक तीर्थक्षेत्र होने के कारण प्रयाग में जैनधर्मानुयायी, भक्तों, प्रचारकों, विद्वानों एवं मुनियों का आवागमन प्रायः होता रहता था। विविधतीर्थकल्प नामक ग्रन्थ में यहाँ आने एवं रहने वाले कतिपय जैनाचार्यों के उल्लेख विद्यमान हैं। उक्त ग्रन्थ के अनुसार एकदा आचार्य अग्निकापुत्र को कुछ आततायियों ने संगम की धारा में फेंक दिया। तभी श्रेणी-आरोहण करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्तकृत् केवली होकर मुक्ति-लाभ किया।[८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नगरस्थ जैनमन्दिर

अयोध्या, काशी आदि नगरों की भाँति प्रयाग भी सुप्रसिद्ध जैनतीर्थ है। यहाँ शताब्दियों तक जैनधर्म एवं संस्कृति का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा। अत: अनुमान है कि प्रचीन काल में यहाँ जैनमन्दिरों की भरमार रही होगी। परन्तु इस समय केवल आठ-दस मन्दिर और कुछ चैत्यालय ही विद्यमान हैं। इनमें भी अधिकांश नवीन हैं। एकादि स्थलों के उत्खनन से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में वहाँ जैनमन्दिर रहे होंगे। लगभग डेढ़-दो सौ वर्षों पूर्व किले की खुदाई में जैनधर्म से सम्बन्धित कुछ तीर्थंकरों एवं यक्ष-यक्षिणियों की पुरातन प्रतिमायें उपलब्ध हुई थीं, जो चाहचन्द मुहल्ले के मन्दिरों में विराजमान हैं। विद्वानों का अनुमान है कि तीर्थंकर प्रतिमाएँ चतुर्थकाल अर्थात् ईसापूर्व छठी शताब्दी के आस-पास की बनी हुई हैं। भूगर्भ से प्राप्त इन कलाकृतियों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में उक्त स्थल पर विशाल जैनमन्दिर था, जिसे तत्कालीन किसी महापुरुष ने प्रभुवर की चिरस्मृति में बनवाया होगा। परन्तु यह मन्दिर कब और कैसे नष्ट हुआ, यह प्रश्न आज भी अनुत्तरित है।

पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर

यह मन्दिर चाहचन्द (जीरो रोड) मुहल्ले में है। स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार इसका निर्माण नौवीं शताब्दी में हुआ था। यहाँ विराजमान तीर्थंकर मूर्तियाँ पाषाण की और देवियों की प्राय: धातु-निर्मित हैं। तीर्थंकरों में मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है कहा जाता है कि यह प्रतिमा किले में भूगर्भ से प्राप्त हुई थी।

पंचायती दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर

यह जिनालय पार्श्वनाथ मन्दिर से लगे हुए धर्मशाला के अन्दर है। इसमें अनेक पुरातन प्रतिमायें विराजमान हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये सभी मूर्तियाँ छठीं से दसवीं शताब्दी के मध्य विनिर्मित की गयी हैं।

प्रयाग संग्रहालय में जैन कलाकृतियाँ

प्रयाग संग्रहालय में कुछ ऐसी पुरातन जैन पुरातात्त्विक सामग्री सुरक्षित है, जिनसे इस जनपद में जैनधर्म एवं संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार का परिज्ञान होता है। मूर्तियों में कौशाम्बी से प्राप्त चन्द्रप्रभु (छठी शताब्दी) और सर्वतोभद्रिका (१० वीं शती) तथा पभोसा से उपलब्ध शान्तिनाथ की प्रतिमा (१२वीं शती) विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ कुछ मृण्मूर्तियाँ, मनके, आयागपट्ट आदि भी सुरक्षित हैं, जो प्रयाग जनपद में ही उपलब्ध हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामीण तीर्थक्षेत्र

कौशाम्बी

भगवान् ऋषभदेव ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को जिन ५२ जनपदों में विभाजित किया, उनमें वत्सराज्य अन्यतम था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। कौशाम्बी की पहचान इलाहाबाद नगर से दक्षिण-पश्चिम ६० किमी० दूर यमुना के उत्तरी तट पर स्थित कौसम ग्राम से की जाती है। प्राचीन काल में यह नगरी अत्यन्त उन्नत एवं वैभवशाली थी, परन्तु इस समय यहाँ कौसम, गढ़वा, कोशल इनाम, कोसम खिराज, पाली, पभोसा आदि छोटे-छोटे ग्राम विद्यमान हैं। यहाँ पाण्डवों द्वारा बनवाया हुआ एक किला था, जो अब ध्वस्त होकर एक विशाल टीले के रूप में कौसम और गढ़वा के मध्य स्थित है।

कौशाम्बी जैनों का सुप्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र है। यहाँ छठे तीर्थंकर भगवान् पद्मप्रभु के गर्भ, जन्म, दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक मनाये गये थे। जैन शास्त्रों एवं पुराणों से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर पद्मप्रभु का जन्म कौशाम्बीपुरी में महाराज धरण और महारानी सुसीमा से आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को चित्रानक्षत्र में हुआ था।[९] प्रभुवर की जन्मस्थली होने के कारण यह नगरी शताब्दियों तक जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र बनी रही। २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का समवशरण यहाँ आया था और यहाँ के निवासियों को उनका उपदेशामृत सहज ही प्राप्त हो गया। २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर भी केवलज्ञान-प्राप्त होने के पूर्व यहाँ पधारे और चन्दनबाला के हाथों से प्राप्त कोदो के भात का आहार ग्रहण किया था। इसके बाद वे कई बार आये और उनका समवशरण भी लगा। वत्सनरेश शतानीक भगवान् महावीर के मौसा और उदयन मौसेरे भाई थे। अत: इन दोनों राजाओं के शासन काल में यहाँ जैनधर्म को पल्लवित-पुष्पित होने का भरपूर अवसर प्राप्त हुआ। जैनधर्म के ११वें चक्रवर्ती जयसेन की जन्मस्थली होने का सौभाग्य भी इसी नगरी को प्राप्त है।

प्राचीन काल में यहाँ अनेकों जैनमन्दिर एवं धर्मशालाएँ विद्यमान थीं। सप्तम शताब्दी में आए हुये हुए चीनी यात्री युवानच्याँग ने यहाँ के ५० मन्दिरों का उल्लेख किया है।[१०] परन्तु मुस्लिम काल में यहाँ का सम्पूर्ण जैन सांस्कृतिक वैभव क्षत-विक्षत कर दिया गया। मन्दिर, मूर्तियाँ, शिलालेख आदि नष्ट कर दिये गये। आज भी यहाँ के खण्डहरों और आस-पास के गाँवों में असंख्य खण्डित-अखण्डित प्रतिमायें बिखरी पड़ी हैं।[११] १९५५ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से कराये गये उत्खनन में असंख्य मृण्मूर्तियाँ, मनके आदि प्राप्त हुए थे। खुदाई में एक विशाल बिहार भी मिला है, जो आजीवक सम्प्रदाय के संस्थापक मंखलिपुत्र गोशालक का बताया जाता है। मीलों में बिखरे भग्नावशेषों के मध्य एक स्तम्भ खड़ा है, जिसे मौर्य सम्राट सम्प्रति ने भगवान् महावीर की कीर्ति के प्रतीकरूप में विनिर्मित कराया था।[१२] पिछली शताब्दी (१८२५-३५ई०) में बाबू प्रभुदास जी आरावालों ने प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार एवं एक शिखरबद्ध दिगम्बर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन मन्दिर का निर्माण करा कर इस तीर्थक्षेत्र को पुनर्जीवित किया। मन्दिर में भगवान् पद्मभप्रभु की प्रतिमा एवं चरण विराजमान हैं। चरणों पर एक धुँधला लेख है, जिसमें सं०५६७ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ प्रभुदास जी द्वारा बनवायी गयी एक धर्मशाला भी है। इस समय मन्दिर एवं धर्मशाला का प्रबन्ध प्रभुदास जी के पौत्र के पौत्र बाबू सुबोध कुमार जी जैन (मानद प्रबन्ध निदेशक, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, बिहार) एवं उनके परिवार वालों की ओर से होता है। इन प्राचीन एवं पुरातात्त्विक सामग्रियों की उपलब्धता से पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में कौशाम्बी और इसके आस-पास जैन धर्म का व्यापक प्रचार था। आज भी यहाँ फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी को विशाल जैन मेला लगता है।

पभोसा

यह स्थान कौशाम्बी से १० कि०मी० पश्चिम यमुना के उत्तरी तट पर है। प्राचीन काल में पभोसा भी कौशाम्बी का ही एक भाग था। यहीं के मनोहर उद्यान में भगवान् पद्मप्रभु के दीक्षा एवं केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार पद्मप्रभु जिनेन्द्र कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को अपराह्न के समय चित्रा नक्षत्र में मनोहर उद्यान में तृतीय भक्त के साथ दीक्षित हुए थे।[१३] दीक्षा लेने के बाद वे विहार करने चले गये। छ: मास पश्चात् वे पुन: उसी वन में पधारे और ध्यानमग्न हो गये। परिणामस्वरूप वैशाख शुक्ला दशमी को अपराह्न काल में चित्रा नक्षत्र के रहते मनोहर उद्यान में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। [१४] इन्द्रादि देवों ने कल्याणक महोत्सव मनाया और यहीं भगवान् का प्रथम समवशरण लगा। इस प्रकार पद्मप्रभु जी के गर्भ एवं जन्म कल्याणक कौशाम्बी नगरी में और दीक्षा तथा केवलज्ञान कल्याणक मनोहर उद्यान (पभोसा) में हुए थे।

यहाँ प्रभासगिरि नामक एक छोटी सी पहाड़ी है इसकी लगभग आधी ऊँचाई पर एक छोटे से मन्दिर के अन्दर अनेक पुरातन प्रतिमायें विराजमान हैं। इनमें मूलनायक भगवान् पद्मप्रभु की सातिशय प्रतिमा विशेष प्रसिद्ध है। यह हलके बादामी पाषाण की है परन्तु सूर्योदय होने पर सूर्य ज्यों-ज्यों चढ़ता है,त्यों-त्यों इसका वर्ण लाल होता जाता है। सूर्य ढलने पर इसका रंग पूर्ववत् हो जाता है। कहा जाता है कि यह प्रतिमा कौशाम्बी मन्दिर के कुएँ में पड़ी थी, जिसे निकालकर यहाँ स्थापित किया गया है। पहाड़ी के ऊपरी भाग में एक विशाल शिला पर चार ध्यानमग्न मुनियों की प्रतिमा अंकित है। यहाँ दो गुफाएँ हैं, जिनके अभिलेखों से प्रतीत होता है कि इनका निर्माण ईसापूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी में हुआ था।[१५] यहाँ शुंगकाल के कई शिलालेख एवं आयागपट्ट मिले हैं।[१६] पहाड़ी के समीप एक विशाल दिगम्बर जैन धर्मशाला है। इसके अन्दर स्थित मन्दिर में भूगर्भ से निकली हुई अनेक जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार पहाड़ी पर प्रत्येक रात्रि को केशर की वर्षा होती है। चैत्र शुक्ला पूर्णिमा को यहाँ वार्षिकोत्सव मनाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामीण जैनमन्दिर

प्रयाग जनपद प्राचीन काल से ही जैन धर्म एवं संस्कृति का प्रधान केन्द्र बना हुआ है। अत: इसके ग्रामीणाञ्चल में भी जैनमन्दिरों, धर्मशालाओं एवं कलाकृतियों का होना स्वाभाविक ही है। कहा जाता है कि भगवान् महावीर के समय में कौशाम्बी और पभोसा क्षेत्र में दस हजार मन्दिर एवं धर्मशालायें विद्यमान थीं।[१७] परन्तु इस समय उनकी संख्या अत्यन्त न्यून हो गयी है। पभोसा के समीप चम्पहा बाजार में एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें स्थापित मूर्ति खेत में मिली थी, जो ईस्वी सन् के पूर्व की मानी जाती है। पाली का प्राचीन मन्दिर तो नष्ट हो चुका है परन्तु नवीन मन्दिर बन गया है। इसमें अनेक प्राचीन प्रतिमायें विराजमान हैं। इसी प्रकार सरायँ अकिल, बेरई, कोड़हारघाट, दारानगर, शाहजादपुर आदि ग्रामों में भी जैनमन्दिर हैं। स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार प्राचीन काल में शाहजादपुर एक समृद्धिशाली जैन नगर था। यहाँ दो सौ जैनमन्दिर एवं बहुसंख्यक जैन परिवार थे। कौशाम्बी, भदैनी, चन्द्रावती, आदि तीर्थक्षेत्रों में विद्यमान दिगम्बर जैन मन्दिरों एवं धर्मशालाओं के निर्माता बाबू प्रभुदासजी के पूर्वज इसी ग्राम के निवासी थे। यहीं से वे वाराणसी और बाद में आरा चले गये थे।[१८] कविवर विनोदीलाल भी इसी ग्राम के निवासी थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन धर्म के साथ प्रयाग जनपद का सम्बन्ध युगादि से है। यहाँ इस धर्म का प्रचार आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय से ही आरम्भ हो गया था। इसके पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ (८७७-७७७ ई० पू०) एवं भगवान् महावीर (छठी शती ई०पू०) के समय तक यह जनपद जैनधर्म और संस्कृति का प्रधान केन्द्र बना रहा। वत्सनरेश शतानीक एवं उदयन के शासन-काल में भी इस को धर्म फूलने-फलने का भरपूर अवसर प्राप्त हुआ। उस समय यहाँ असंख्य जैनमन्दिर और जैन बस्तियाँ विद्यमान थीं। चीनी यात्री ह्वेनसाँग के समय (सप्तम शताब्दी ईसवी) में भी यहाँ जैनधर्म का व्यापक प्रचार था। अकेले कौशाम्बी में ही ५० मन्दिर विद्यमान थे। परन्तु मध्यकाल में यह भूभाग मुसलमानों के आधिपत्य में आ गया। फलत: यहाँ की सपूर्ण सांस्कृतिक विरासत क्षत-विक्षत होने लगी। इसकी कला का विनाश किया गया। मन्दिर-मूर्तियाँ स्तूप, आयागपट्ट आदि तोड़ डाले गये। फिर भी यहाँ के धर्मप्राण जैनबन्धु निराश नहीं हुए। वे स्वधर्मपालन के साथ-साथ मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं नवनिर्माण में लगे रहे। इससे प्रयाग आज भी एक पावन जैन तीर्थक्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है और भविष्य में भी रहने की पूर्ण आशा है।

सन्दर्भ—

१. महाभारत, वन०,८७/१८-१९, मत्स्य पु०१०९/१५

२. एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयत् ।

प्रदेश: स प्रजागाख्यो यत: पूजार्थयोगत:।। —हरिवंश० ९/९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः।
प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ।। —पद्मपुराण १३/२८.

४. श्री सम्मेदगिरि-चम्पापुरी-ऊर्जयन्तगिरि-अक्षयवट-आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्र कृत यात्राणां।

५. विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ६८.

६. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग१, पृ०१०-११.

७. द्रष्टव्य- उ०प्र० के दि० जै० तीर्थ, पृ० ९, १२, १३६.

८. विविधतीर्थकल्प, पृ० ६८.

९. तिलोयपण्णत्ति ४/५३१, पद्म०९८/१४५, वरांग० २७/८२, उत्तर पु०५२/१८.

१०. कौशाम्बीगढ़ का संक्षिप्त इतिहास-सुबोध कुमार जैन, पृ० ४०.

११. द्रष्टव्य-प्रा०भा०कलाएँ -एम० एम० असगर अली कादरी, पृ० २३६.

१२. कौशाम्बी गढ़ का संक्षिप्त इतिहास, पृ०४२.

१३. तिलोयपण्णत्ति ४/६४९.

१४. वही, ४/६८३.

१५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग२,पृ०१३-१४.

१६. उ०प्र० के दि० जै० तीर्थ, पृ०१५१.

१७. कौशाम्बीगढ़ का संक्षिप्त इतिहास ,पृ०५०.

१८. वही, पृ० ३३-३९ एवं जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ४६, किरण १-२,पृ०२२.

बलीपुरटाटा, प्रयाग
२१२२०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जीरापल्लीगच्छ का इतिहास

डॉ. शिवप्रसाद

निर्ग्रन्थ परम्परा के श्वेताम्बर आम्नाय के अन्तर्गत चन्द्रकुल से उद्भूत गच्छों में बृहद्गच्छ या वडगच्छ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। **पूर्णिमागच्छ**, **आगमिकगच्छ**, **अंचलगच्छ**, **पिप्पलगच्छ** आदि बृहद्गच्छ से ही अस्तित्त्व में आये हैं। **बृहद्गच्छगुर्वावली**[१] [रचनाकाल विक्रम सम्वत् की १६वीं शताब्दी] के अनुसार बृहद्गच्छ से उद्भूत पच्चीस शाखा गच्छों मे जीरापल्लीगच्छ भी एक है।

जैसा कि इसके अभिधान से स्पष्ट होता है जीरापल्ली[२] [राजस्थान प्रान्त के सिरोही जिले में आबू के निकट अवस्थित जीरावला ग्राम] नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्त्व में आया प्रतीत होता है। बृहद्गच्छीय देवचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और जिनचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि इस गच्छ के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। इस गच्छ में वीरसिंहसूरि, वीरचन्द्रसूरि, शालिभद्रसूरि, वीरभद्रसूरि, उदयरत्नसूरि, उदयचन्द्रसूरि, रामकलशसूरि, देवसुन्दरसूरि, सागरचन्द्रसूरि आदि कई मुनिजन हो चुके हैं।

इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं जो सब मिलकर विक्रम सम्वत की १५वीं शताब्दी से लेकर विक्रम सम्वत की १७वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक के हैं। किन्तु जहाँ अभिलेखीय साक्ष्य वि. सं. १४०६ से लेकर विक्रम सम्वत १५७६ तक के हैं एवं उनकी संख्या भी तीस के लगभग है, वहीं साहित्यिक साक्ष्यों की संख्या मात्र दो है। चूँकि उत्तरकालीन अनेक चैत्यवासी मुनिजन प्राय: पाठन-पाठन से दूर रहते हुए स्वयं को चैत्यों की देखरेख और जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि कार्यों में ही व्यस्त रखते थे। अत: ऐसे गच्छों से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्यों का कम होना स्वाभाविक है। साम्प्रत निबन्ध में उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के इतिहास की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

साहित्यिक साक्ष्यों की तुलना में अभिलेखीय साक्ष्यों का प्राचीनतर होने और संख्या की दृष्टि से अधिक होने के साथ ही अध्ययन की सुविधा आदि को नज़र में रखते हुए सर्वप्रथम इनका और तत्पश्चात् साहित्यिक साक्ष्यों का विवरण दिया जा रहा है:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीरापल्लीगच्छ का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम लेख इस गच्छ के आदिम आचार्य रामचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित आदिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। वर्तमान में यह प्रतिमा शीतलनाथ जिनालय, उदयपुर में संरक्षित है। श्री पूरनचन्द नाहर ने इसकी वाचना दी है, जो इस प्रकार है :

सं. १४०६ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ९ रवौ सा..... कुटुम्ब श्रेयोर्थं श्री आदिनाथ बिम्बं कारितं प्रतिष्ठितं जीरापल्लीयैः श्रीरामचन्द्रसूरिभिः।।

जैनलेखसंग्रह, भाग-२, लेखांक १०४९

इस गच्छ का उल्लेख करने वाला द्वितीय लेख वि. सं. १४११ का है जो जीरावला स्थित जिनालय में पार्श्वनाथ की देवकुलिका पर उत्कीर्ण है। मुनि जयन्तविजय ने इसकी वाचना दी है, जो निम्नानुसार है :

सं. १४११ वर्षे चैत्र वादि ६ बुधे अनुराधा नक्षत्रे बृहद्गच्छीय श्रीदेवचन्द्रसूरीणां पट्टे श्रीजिनचन्द्रसूरीणां तपोवन तपोधन तपस्वीकरपरिवृतानां श्रीपार्श्वनाथस्य देवकुलिका जीरापल्लीयैः श्रीरामचन्द्रसूरिभिः कारिता छः।।

अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखांक ११९

इस गच्छ से सम्बद्ध अन्य लेखों का विवरण इस प्रकार है:

क्रमश .....

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमांक	सम्वत्	तिथि/मिति	आचार्य या मुनि का नाम	लेख का स्वरूप	प्रतिष्ठास्थान	सन्दर्भ ग्रन्थ
१	२	३	४	५	६	७
१.	१४१३	फाल्गुन सुदि १३	देवचन्द्रसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर रामचन्द्रसूरि	पार्श्वनाथ की देवकुलिका पर उत्कीर्ण लेख		मुनि जयन्तविजय, संपा., **अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेख संदोह**, लेखांक १२० एवं दौलतसिंह लोढा, पूर्वोक्त, लेखांक ३०९
२.	१४२९	माघ वदि ७	वीरचन्द्रसूरि		आदिनाथ जिनालय, वडनगर	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-१, लेखांक ५४०
३.	१४३५	माघ वदि १२ सोमवार	वीरसिंहसूरि के पट्टधर वीरचन्द्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख		लोढा, पूर्वोक्त, लेखांक ९९
४.	१४३८	ज्येष्ठ वदि ४ रविवार	,,		चिन्तामणि जी का मन्दिर, बीकानेर	अगरचन्द नाहटा, पूर्वोक्त लेखांक ५३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१	२	३	४	५	६	७
५.	१४४०	पौष सुदि ११ बुधवार	वीर(चन्द)सूरि के शिष्य शालिभद्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	गौडीपार्श्वनाथ जिनालय, बडोदरा	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक २४१
६.	१४४२	वैशाख सुदि १५	वीरचन्द्रसूरि के शिष्य शालिभद्रसूरि	पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जी का मन्दिर, बीकानेर	अगरचंद नाहटा, संपा. **बीकानेरजैनलेखसंग्रह,** लेखांक ५४
७.	१४४९	वैशाख सुदि ६ बुधवार	,,	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	अनुपूर्तिलेख, आबू	मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ६०३
८.	१४५३	वैशाख सुदि ३ सोमवार	,,	चौबीसी जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख		दौलत सिंह लोढ़ा, संपा०, **श्रीप्रतिमालेखसंग्रह,** लेखांक ६२
९.	१४५३	——	,,	महावीर की धातुप्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख	चिन्तामणि जी का मन्दिर बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ५६३
१०.	१४६२	——	,,	पार्श्वनाथ की धातुप्रतिमा का लेख	धर्मनाथ जिनालय	मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक ७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

१	२	३	४	५	६	७
११..	१४६८	वैशाख वदि ३ शुक्रवार	शालिभद्रसूरि के पट्टधर वीरभद्रसूरि	श्रेयांसनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	नवखण्डा पार्श्वनाथ जिनालय, भोंयरापाडो, खंभात	मुनि बुद्धिसागर, संपा., **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह**, भाग२, लेखांक८७४
१२.	१४७२	वैशाख सुदि १२	शालिभद्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	भंडारस्थ धातु प्रतिमा, पालिताणा	मुनि विजयधर्मसूरि, संपा. **प्राचीनलेखसंग्रह**, लेखांक १११
१३.	१४७७	वैशाख.....?	शालिभद्रसूरि	महावीर की धातुप्रतिमा का लेख	सुमतिनाथ मुख्य बावनजिनालय, मातर	मुनि बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२, लेखांक ४६१
१४.	१४८१	वैशाख सुदि १५ बुधवार	वीरचन्द्रसूरि के पट्टधर शालिभद्रसूरि	पार्श्वनाथ की धातुप्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ७०७
१५.	१४८३	वैशाख सुदि ५ गुरुवार	शालिभद्रसूरि के पट्टधर उदयरत्नसूरि	चन्द्रप्रभ की धातुप्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, नरसिंहजी की पोल, बडोदरा	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-२ लेखांक १३०

१	२	३	४	५	६	७
१६.	१४८३	माघ वदि ५ सोमवार	शालिभद्रसूरि	वासुपूज्य की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, साथां	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक २४५
१७.	१५०८	ज्येष्ठ सुदि १० सोमवार	उदयचन्द्रसूरि	श्रेयांसनाथ की प्रतिमा का लेख		लोढा, पूर्वोक्त, लेखांक २५६
१८.	१५०९	वैशाख.....		सुविधिनाथ की धातु की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, राधनपुर	मुनि विशालविजय, संपा., **राधनपुरप्रतिमालेखसंग्रह,** लेखांक १६१
१९.	१५१५	फाल्गुन सुदि ५ गुरुवार	उदयचन्द्रसूरि	कुन्थुनाथ की धातुप्रतिमा का लेख	संभवनाथ जिनालय, अमरेली	मुनि विजयधर्मसूरि, पूर्वोक्त, लेखांक ३०३
२०.	१५२०	माघ वदि ७ रविवार	उदयचन्द्रसूरि के शिष्य सागरचन्द्रसूरि	विमलनाथ की धातुप्रतिमा का लेख	अजितनाथ जिनालय, शेखनो पाडो, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग १ लेखांक १०१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१	२	३	४	५	६	७
२१.	१५२७	माघ वदि ७ रविवार	शालिभद्रसूरि के पट्टधर उदयचन्द्रसूरि	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, लखनऊ	पूरनचन्द नाहर, संपा., **जैनलेखसंग्रह**, भाग-२, लेखांक १५०६
२२.	१५२७	,,	,,	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख		लोढा, पूर्वोक्त, लेखांक १३८
२३.	१५३२	वैशाख वदि ५ रविवार	उदयचन्द्रसूरि के शिष्य सागरचन्द्रसूरि	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि जी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक १०७२
२४.	१५४९	ज्येष्ठ वदि १ शुक्रवार	उदयचन्द्रसूरि के पट्टधर देवरत्नसूरि	पार्श्वनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	वीर जिनालय, सांगानेर	विनयसागर, पूर्वोक्त, लेखांक ८५५
२५.	१५५२	माघ वदि २ रविवार	देवरत्नसूरि	वासुपूज्य की धातु की प्रतिमा का लेख	शांतिनाथ जिनालय, शांतिनाथ पोल, अहमदाबाद	बुद्धिसागर, पूर्वोक्त, भाग-१, लेखांक १३२३

१	२	३	४	५	६	७
२६.	१५६०	वैशाख सुदि ३ बुधवार	देवरत्नसूरि	मुनिसुव्रत की प्रतिमा का लेख	जैन मन्दिर, राजनगर	साराभाई नवाब— "राजनगरना जिनमन्दिरोमां सचवायेलां ऐतिहासिक अवशेषो" **जैनसत्यप्रकाश** वर्ष ९, अंक ८, लेखांक ३६
२७.	१५७२	वैशाख सुदि ३ शनिवार	"	शांतिनाथ की धातुप्रतिमा का लेख	चिन्तामणिजी का मन्दिर, बीकानेर	नाहटा, पूर्वोक्त, लेखांक ११३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसा की पीछे हम देख चुके हैं वि.सं. १४०६ के प्रतिमालेख में प्रतिमा-प्रतिष्ठापक के रूप में रामचन्द्रसूरि का तो उल्लेख है, परन्तु उनके गुरु आदि का नाम उक्त लेख से ज्ञात नहीं होता, वहीं दूसरी ओर वि.सं. १४११ और वि.सं. १४१३ के अभिलेखों से स्पष्ट रूप से उनके गुरु और प्रगुरु तथा उनके गच्छ का भी नाम मालूम हो जाता है। चूँकि ये इस गच्छ [जीरापल्लीगच्छ] से सम्बद्ध प्राचीनतम साक्ष्य हैं अत: यह माना जा सकता है कि रामचन्द्रसूरि के समय से ही बडगच्छ की एक शाखा के रूप में जीरापल्लीगच्छ के अस्तित्त्व में आने की नींव पड़ चुकी थी और शीघ्र ही यह एक स्वतन्त्र गच्छ के रूप में स्थापित हो गया। इस आधार पर रामचन्द्रसूरि को इस गच्छ का पुरातन आचार्य माना जा सकता है। अभिलेखीय साक्ष्यों से रामचन्द्रसूरि के अतिरिक्त वीरसिंहसूरि, वीरचन्द्रसूरि, शीलभद्रसूरि, वीरभद्रसूरि, उदयरत्नसूरि, उदयचन्द्रसूरि, सागरचन्द्रसूरि, देंवरत्नसूरि आदि के नामों के साथ-साथ उनके पूर्वापर सम्बन्धों का भी उल्लेख मिल जाता है, जो इस प्रकार है:

१. वीरसिंहसूरि के पट्टधर वीरचन्द्रसूरि [वि.सं. १४२९-३८]

२. वीरचन्द्रसूरि के पट्टधर शालिभद्रसूरि [वि. सं. १४४०-८३]

३. शालिभद्रसूरि के प्रथम शिष्य वीरभद्रसूरि [वि. सं. १४६८]

४. शालिभद्रसूरि के द्वितीय शिष्य उदयरत्नसूरि [वि. सं. १४८३]

५. शालिभद्रसूरि के तृतीय शिष्य उदयचन्द्रसूरि [वि. सं. १५०८-२७]

६. उदयचन्द्रसूरि के प्रथम शिष्य सागरचन्द्रसूरि [वि. सं. १५२०-१५३२]

७. उदयचन्द्रसूरि के द्वितीय शिष्य देवरत्नसूरि [वि. सं. १५४९-१५७२]

उक्त आधार पर जीरापल्लीगच्छ के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका पुनर्गठित की जा सकती है, जो इस प्रकार है:

वडगच्छीय देवचन्द्रसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
रामचन्द्रसूरि [वि. सं. १४११ और १४१३ में जीरापल्ली तीर्थ पर दो देवकुलिकाओं के निर्माता]
?
:
:
वीरसिंहसूरि
|
वीरचन्द्रसूरि [वि. सं. १४२९-१४३८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

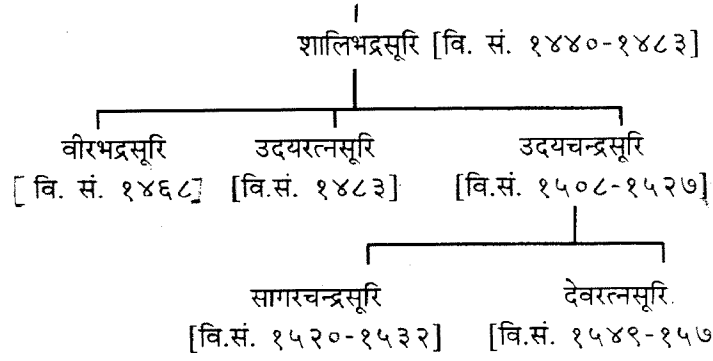

वि.सं. १५५७ के प्रतिमालेख में उल्लिखित प्रतिमाप्रतिष्ठापक उदयचन्द्रसूरि के गुरु आदि का उल्लेख न मिलने से उनके सम्बन्ध में कुछ जान पाना कठिन है। यद्यपि ऊपर तालिका में शीलभद्रसूरि के शिष्य उदयचन्द्रसूरि का नाम आ चुका है किन्तु उक्त उदयचन्द्रसूरि और वि. सं. १५५७ के लेख में उल्लिखित उदयचन्द्रसूरि के बीच समय के अन्तराल को देखते हुए दोनों का एक ही व्यक्ति होना असम्भव तो नहीं पर कठिन अवश्य है।

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका है इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र दो साहित्यिक साक्ष्य मिलते हैं। इनमें से प्रथम है रामकलशसूरि के शिष्य देवसुन्दरसूरि द्वारा रचित **कयवन्नाचौपाई**[३]। इसकी प्रशस्ति में रचनाकार ने केवल अपने गुरु और रचनाकाल तथा गच्छ आदि का ही उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है :

संवत पनर चोराण सार, मागसर वदि सातमि गुरुवार ।
पूष्य नक्षत्र हूंतो सिध जोग, कयवन्नानी कथानो भोग ।।
श्रीजीराउलिगच्छ गुरु जयवंत, श्री श्रीरामकलशसूरि गुणवंत।
वाचक देवसुन्दर पभणंति, भणइ गुणइ ते सुख लहंति ।।

इनके द्वारा रची गई एक अन्य कृति भी मिलती है जिसका नाम है **आषाढ़भूतिसज्झाय**[४] (रचनाकाल वि. सं. १५८७)।

वि. सं. १६०२ में लिखी गयी तपागच्छीय**श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति** की प्रतिलिपि की प्रशस्ति[५] में भी इस गच्छ का उल्लेख है:

इत श्री तपग. श्राद्ध प्रतिक्रमण.....वृत्तौ शेषाधिकार: पंचम:। समाप्ता चेयमर्थदीपिकानाम्नो श्राद्धप्रतिक्रमण टीका। ग्रन्थाग्रन्थ ६६४४।। श्री सं. १६०२ श्रावण सुदि ५ रवौ श्रीजीराउलगच्छे लिखितं कीकी जाउरनगरे श्रीविजयहर्षगणि शिष्य रंगविजयनी प्रति भंडारी मूकी।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कयवन्नाचौपाई के रचनाकार देवसुन्दरसूरि के गुरु रामकलशसूरि किसके शिष्य थे। अभिलेखीय साक्ष्यों में उल्लिखित सागरचन्द्रसूरि, देवरत्नसूरि आदि से उनका क्या सम्बन्ध था, प्रमाणों के अभाव में यह ज्ञात नहीं होता। ठीक यही बात **श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र** की वि.सं. १६०२ में प्रतिलिपि करने वाले जीरापल्लीगच्छीय रंगविजय और उनके गुरु विजयहर्षगणि के बारे में कही जा सकती है, फिर भी उक्त साहित्यिक साक्ष्यों से वि. सम्वत् की १७वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक इस गच्छ का स्वतन्त्र अस्तित्त्व सिद्ध होता है। इसके बाद इस गच्छ से सम्बद्ध कोई साक्ष्य न मिलने से यह अनुमान व्यक्त किया जा सकता है कि इस समय तक इस गच्छ के अनुयायी श्रमण किन्ही प्रभावशाली गच्छों विशेषकर तपागच्छ में सम्मिलित हो गये होंगे। यद्यपि त्रिपुटीमहाराज ने वि. सं. १६५१ में इस गच्छ के किन्ही देवानन्दसूरि के पट्टधर सोमसुन्दरसूरि के विद्यमान होने का उल्लेख किया है, परन्तु अपने उक्त कथन का कोई आधार या सन्दर्भ नहीं दिया है, अतः इसे स्वीकार कर पाना कठिन है।

सन्दर्भ

१. मुनि जिनविजय, संपा. **विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह,** सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५३, बम्बई १९६१ ई. सन्, पृष्ठ ५२-५५।

२. मुनि जयन्तविजय, **अर्बुदाचलप्रदक्षिणा**, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर १९४८ ईस्वी सन्, पृष्ठ ८७-९७ ।

३-४. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, **जैनगूर्जरकविओ,** भाग-१, नवीन संस्करण, संपा. डॉ. जयन्त कोठारी, बम्बई १९८६ ईस्वी सन्, पृष्ठ ३३३ ।

५. अमृतलाल मगनलाल शाह, संपा., **श्रीप्रशस्तिसंग्रह,** अहमदाबाद वि. सं. १९९३, भाग-२, पृष्ठ ३६६ ।

६. त्रिपुटी महाराज, **जैन परम्परानो इतिहास**, भाग-२, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५४, अहमदाबाद १९६०ईस्वी सन्, पृष्ठ ५९९ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

आधुनिक विज्ञान, ध्यान एवं सामायिक

*डॉ. पारसमल अग्रवाल**

१. प्रस्तावना

इस लेख में यह दर्शाया जा रहा है कि आज पश्चिम जगत् के वैज्ञानिकों ने ध्यान (Meditation) को अनेक भौतिक लाभों के जन्मदाता के रूप में स्वीकार कर लिया है। हजारों वर्षों से जैन संस्कृति में गृहस्थ के लिए भी प्रतिदिन सामायिक करने की परम्परा रही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम ध्यान या सामायिक के महत्त्व को समझकर इसका लाभ लें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु इस लेख में ध्यान के बारे में पश्चिम के वैज्ञानिकों एवं डॉक्टरों के अनुसन्धान से प्राप्त निष्कर्षों का वर्णन करने के उपरान्त सामायिक का विश्लेषण किया गया है। यह भी बताया गया है कि सामायिक ध्यान का एक विशिष्ट रूप है। सामायिक के विश्लेषण का उद्देश्य यह भी है कि हम सामायिक को एक रूढ़ि की तरह न करते हुए उसको समझकर करें ताकि उसका आध्यात्मिक एवं भौतिक लाभ तत्काल ही हमारे जीवन में दृष्टिगोचर हो सके।

२. आधुनिक विज्ञान एवं ध्यान

अमरीका के प्रिंसटन विश्वविद्यालय की एक वैज्ञानिक डॉ. पैट्रिशिया पैरिंगटन ने ध्यान मग्न अवस्था में कई व्यक्तियों पर कई प्रयोग इन वर्षों में किए। उनके निष्कर्ष उनके द्वारा लिखित पुस्तक 'फ्रीडम इन मेडिटेशन' में देखे जा सकते हैं। डॉ. पैरिंगटन ने सिद्ध किया कि ध्यान से ब्लडप्रेशर सामान्य होता है, कोलेस्टराल ठीक होता है, तनाव कम हो जाता है, हृदय रोगों की सम्भावना कम हो जाती है, याददाश्त बढ़ती है, डिप्रेशन के रोगी को भी लाभ होता है, इत्यादि.....इत्यादि।

अमरीका के ही उच्चकोटि के वैज्ञानिक डॉ. बेनसन ने भी इसी प्रकार के परिणाम उनके अनुसंधान कार्यों द्वारा प्राप्त की।

---

* कन्दकन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर में १२-१३ मार्च १९९६ को आयोजित जैन विद्या संगोष्ठी में पठित लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमरीका के डॉ. राबर्ट एन्थनी[१] ने इनकी पुस्तक 'टोटल सेल्फ कॉन्फिडेंस' में ध्यान के २४ भौतिक लाभ गिनाने के बाद यह बताया कि ये सब लाभ तो साइड इफेक्ट, यानी अनाज के उत्पादन के साथ घास के उत्पादन की तरह, हैं। मूल लाभ तो यह है कि आप ध्यान द्वारा आपकी आन्तरिक शक्ति के नजदीक आते हो। डॉ. एन्थनी ने जो २४ लाभ गिनाए उसमें तनाव व एलर्जी से मुक्ति, ड्रग एवं नशे की आदत से छुटकारा पाने में आसानी, अवस्थमा से राहत, ब्लडप्रेशर, कैंसर, कोलेस्टराल, हृदयरोग आदि में लाभ सम्मिलित है।

डॉ. आरनिश (अमरीका) ने उनकी पुस्तक 'रिवर्सिंग हार्ट डिज़ीज' में ध्यान का महत्त्व विस्तार से स्वीकार किया है। वे यह प्रचारित करते हैं कि हृदय रोग की बीमारी ध्यान से ठीक हो सकती है।

अमरीका में बहु प्रशंसित प्रख्यात चिकित्सक डॉ. दीपक चोपड़ा[२] ने उनकी पुस्तक 'परफेक्ट हेल्थ' में पृ. १२७ से १३० पर ध्यान को औषधि के रूप में वर्णन करते हुए प्रायोगिक आंकड़ों का विश्लेषण किया एवं कई तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया। ४० वर्ष से अधिक उम्र के ध्यान करने वाले एवं ध्यान न करने वालों की तुलना करने पर उन्होंने यह पाया कि जो नियमित ध्यान करते हैं उन्हें अस्पताल जाने की औसत आवश्यकता लगभग एक-चौथाई (२६.३%) रह जाती है। इसी पुस्तक में डॉ. चोपड़ा ने ब्लडप्रेशर एवं कोलेस्टराल के आंकड़ों द्वारा भी यह बताया है कि ध्यान करने से कोलेस्टराल का स्तर गिरता है व रक्तचाप सामान्य होने लगता है। हृदय रोग के आंकड़े बताते हुए डॉ. चोपड़ा लिखते हैं कि अमरीका में हृदयरोग के कारण अस्पतालों में प्रवेश की औसत आवश्यकता ध्यान न करने वालों की तुलना में ध्यान करने वालों को बहुत कम, मात्र आठवां भाग (१२.७%) होती है। इसी प्रकार कैंसर के कारण अस्पताल में भर्ती होने की आवश्यकता ध्यान न करने वालों की तुलना में लगभग आधी (४४.६%) होती है। डॉ. चोपड़ा लिखते हैं कि आज तक ध्यान के मुकाबले में ऐसी कोई रासायनिक औषधि नहीं बनी है जिससे हृदय रोग या कैंसर की इतनी अधिक रोकथाम हो जाये। १९८० से १९८५ के एक ही चिकित्सा बीमा कम्पनी के सभी उम्रों के ६ लाख सदस्यों के आंकड़ों के विश्लेषण से यह भी ज्ञात हुआ कि ध्यान न करने वालों की तुलना में ध्यान करने वालों को डॉक्टरी परामर्श की औसत आवश्यकता आधी रही।

इस प्रकार के अनुसन्धान से प्रभावित होकर ही अमरीका के कई डॉक्टर कई बीमारियों के उपचार हेतु दवा के नुस्खे के साथ ध्यान का नुस्खा भी लिखने लगे हैं। ध्यान के नुस्खे के अन्तर्गत रोगी को ध्यान सिखाने वाले विशेषज्ञ के पास जाना होता है जो ध्यान सिखाने की फीस लगभग ६० डालर प्रतिघण्टा की दर से लेता है। अमरीका की कई चिकित्सा बीमा-कम्पनियाँ ध्यान पर होने वाले रोगी के इस खर्चे को दवा पर होने वाले खर्चे के रूप में मानने लगी हैं व इसकी भरपाई करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक क्या कहें, यहाँ तक कि डॉक्टरों के संगठन 'अमरीकन मेडिकल अशोसिएशन'[३] ने ८३२ पृष्ठों की एक पुस्तक 'फैमिली मेडिकल गाइड' लिखी है जिसमें पृ. २० पर विस्तार से यह बताया है कि जीवनं को स्वस्थ बनाये रखने के लिए नियमित ध्यान करना चाहिए। पुस्तक के एक अंश का हिन्दी अनुवाद निम्नानुसार होगा:

"ध्यान करने की कई विधियाँ हैं किन्तु सभी का एकमात्र लक्ष्य है दिमाग को घबराहट एवं चिन्ताजनक विचारों से शून्य करके शान्त अवस्था प्राप्त करना।

कई संस्थाएँ एवं समूह ध्यान करना सिखाते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आप वहाँ जाकर ध्यान करना सीखें। अधिकांश व्यक्ति अपने आप ही ध्यान करना सीख सकते हैं। निम्नांकित सरल विधि को आप अपना सकते हैं :

१. एक शान्त कमरे में आराम से आँख बन्द कर कुर्सी पर ऐसे बैठो कि पाँव जमीन पर रहे व कमर सीधी रहे।

२. कोई शब्द या मुहावरा ऐसा चुनो जिससे आपको भावनात्मक प्रेम या घृणा न हो (जैसे 'oak' या 'bring')। आप अपने होंठ हिलाए बिना मन ही मन इस शब्द का उच्चारण बार-बार दुहराओ। शब्द पर ही पूरा ध्यान दो, शब्द के अर्थ पर ध्यान नहीं देना है। इस प्रक्रिया को करते हुए यदि कोई विचार या दृश्य दिमाग में आए तो सक्रिय होकर उसे भगाने का प्रयास मत करो एवं उस दृश्य या विचार पर अपना ध्यान भी केन्द्रित करने का प्रयास मत करो। किन्तु बिना होठ हिलाए आप मन ही मन जो शब्द बोल रहे हो उसकी ध्वनि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करो।

३. इस प्रक्रिया को प्रतिदिन दो बार ५-५ मिनट तक एक सप्ताह के लिए या जब तक कि दिमाग को अधिक समय के लिए विचार-शून्य करने के लिए प्रवीण न हो जाओ तब तक करो तत्पश्चात् ध्यान की अवधि धीरे-धीरे बढ़ाओ। शीघ्र ही देखोगे कि आप २०-२० मिनट के लिए ध्यान करने में समर्थ हो गए हो।

कुछ व्यक्तियों को शब्द के आश्रय के बदले किसी चित्र या मोमबत्ती आदि वस्तु का आश्रय लेना सरल लगता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार के किसी भी शान्त ध्यान से दिमाग को विचारों एवं चिन्ताओं से रिक्त करना।"

उक्त वर्णन अमरीकन मेडिकल एशोसिएशन ने दिया है। अन्य कई विशेषज्ञों के वर्णन भी अन्यत्र देखे जा सकते हैं। अब हम उस विधि की चर्चा करते हैं जो जैन संस्कृति में सामायिक नाम से हजारों वर्षों से प्रचलित है।

३. सामायिक

तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय में सामायिक चरित्र[४] एवं उत्तम संहनन वाले जीवों के ध्यान[५] का उल्लेख हुआ है। वह कथन मुनि चरित्र की अपेक्षा से है। बिना व्यक्तिगत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभूति के इस विषय पर लिखा जाना अर्थहीन सा होगा। यानी मुनि के दासानुदास की पंक्ति को मेरे जैसा सामान्य गृहस्थ इस विषय में लिखने में असमर्थ है। अत: गृहस्थों के लिए सामायिक की चर्चा करना ही इस लेख में अभीष्ट है।

गृहस्थों की ग्यारह प्रतिमाओं में तीसरी सामायिक प्रतिमा है :

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ।।

(चारित्रपाहुड[६] - २२)

इसी प्रकार दूसरी प्रतिमा व्रतप्रतिमा है। इस प्रतिमा के अन्तर्गत ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत एवं ४ शिक्षाव्रत, इस प्रकार १२ व्रत होते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक को ४ शिक्षाव्रतों में से एक शिक्षाव्रत बताया है। परम्परा यह भी है कि अव्रती श्रावकों को भी यह प्रेरणा दी जाती है कि चाहे वे व्रती श्रावकों की तरह नियमित सामायिक न करें किन्तु यथासम्भव सामायिक अवश्य करें।

सामायिक की इस चर्चा का उद्देश्य यह है कि जो सामायिक करते हैं या कर रहे हैं उनको सामायिक की विशेषताएं भली-भाँति ज्ञात हो सके ताकि सामायिक में व्यतीत किए गए समय का उन्हें पूरा-पूरा लाभ मिल सके। इसके अतिरिक्त इस लेख का उद्देश्य यह भी है कि जो सामायिक नहीं कर रहे हैं वे भी पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से, अपनी क्षमता एवं परिस्थिति के अनुसार, सामायिक जैसे बहुमूल्य रत्न को अपनाकर अपना आत्मिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य सुधार सकें।

सामायिक प्रक्रिया में निम्नांकित चरण होते हैं :

१. प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, व समता भाव
२. वन्दना व स्तवन
३. कायोत्सर्ग एवं मन्त्र जाप

प्रचलित सामायिक पाठ[७] में इन सबका समावेश स्पष्ट दिखाई देता है। उक्त तीन चरणों में प्रथम दो चरण अन्तिम चरण की प्राप्ति की तैयारी हेतु हैं। तीसरा चरण यदि बीजारोपण है तो प्रथम एवं द्वितीय चरण भूमि को नर्म एवं नम बनाने हेतु हैं। सामायिक पाठ का मुख्य उद्देश्य प्रथम दो चरणों द्वारा व्यक्ति के तनाव को कम करना है। विकल्पों के जाल से बंधा व्यक्ति सीधे कायोत्सर्ग एवं जाप में प्रवेश करने में कठिनाई अनुभव करता है। समायिक पाठ की निम्नांकित पंक्तियों पर विचार करना उपयोगी होगा:

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे ।
तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सो सब झूठो होउ जगतपति के परसादै ।

जा प्रसाद तैं मिलै सर्व सुख दुःख न लाधै ।।६।।

इन पंक्तियों का सन्देश यही है कि जो कुछ पाप कार्य पूर्व में किए हैं वे 'झूठे' हो जाएं। बड़ा अजीब लगता है। जो कार्य हुआ है, वह तो हो चुका है, वह झूठा कैसे होगा? यहाँ जैनदर्शन कहता है कि जो तुझसे हुआ उसमें तू तो निमित्त मात्र था। तू उन किए गए कार्यों का स्वामी अपने आपको मानता है यह तुम्हारी बड़ी गलती है। पूर्वकृत अच्छे कार्य का अहंकार एवं बुरे कार्यों का दर्द इसलिए है कि तू उन कार्यों का कर्ता स्वयं को मान लेता है। कर्ता न बनकर मात्र निमित्त समझ लेने से अहंकार एवं दुःख हल्के हो सकते हैं। अतः ऐसी त्रुटिपूर्ण मान्यता को सामायिक के समय में झूठी मान्यता के रूप में स्वीकारना लाभप्रद एवं उचित है।

पूर्वकृत कर्मों से इस प्रकार निवृत्ति पाने को आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिक्रमण कहा है—

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये ।

उनसे निवर्ते आत्म को, वो आतमा प्रतिक्रमण है ।।

समयसार नाटक ३८ ३//

इसी प्रकार सामायिक के अन्तर्गत प्रत्याख्यान का अर्थ होता है भविष्य के समस्त कार्यों से निर्वृत्ति, यानी भविष्य के संभावित कार्यों का भी अपने आपको कर्ता न मानकर निमित्त मानना। निमित्त की मान्यता स्वीकारते ही हमारी भावी कार्यसूची का भार कम हो जाता है। ज्ञानी को प्रति समय ऐसा ज्ञान रहता है। अज्ञानी किन्तु जिज्ञासु साधक कम से कम कुछ मिनट के लिए अपने आगामी कार्य के बोझ को सामायिक के समय उतारता है।

वर्तमान के कार्यों का कर्ता न मानना आलोचना कहलाता है। प्रत्याख्यान व आलोचना के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की विवेचना समयसार[९] में आचार्य कुन्दकुन्द ने की है।

समताभाव के अन्तर्गत साधक यह स्वीकारता है कि कोई भी पदार्थ या व्यक्ति बुरा नहीं है। समस्त पदार्थों एवं व्यक्तियों से मोह, राग, द्वेष, कम से कम सामायिक के काल में छोड़ने का संकल्प इस प्रक्रिया में होता है। आचार्य योगीन्दु देव[१०] कहते हैं—

राग-द्वेष दो त्यागकर, धारे समताभाव ।

यह सामायिक जानना, भाखैं जिनवर राव ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुध महाचन्द्र कृत सामायिक पाठ में बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा है—

इस अवशर में मेरे सब सम कंचन अरु त्रण ।
महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहिं सम गण।।

जामन मरण समान जानि हम समता कीनी ।
सामायिक का काल जितै यह भाव नवीनी ।।१३।।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार[११] में समस्त अन्य द्रव्यों के प्रति माध्यस्थ भाव रखते हुए मात्र अपने आत्म-तत्त्व को ध्याने की प्रेरणा देते हैं—

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।

इतना सब मस्तिष्क में प्रवेश करने पर एवं सामायिक के समय संकल्पपूर्वक इतना सब स्वीकारने की उत्कट भावना से हमारे तनाव कुछ ही मिनट में हल्के हो सकते हैं। इससे अगले चरण में तीर्थंकरों की वन्दना व स्तवनपूर्वक भक्ति के भावों से रहा सहा तनाव या विकल्पों का जाल भी कुछ समय के लिए हमारे मानस पटल से अदृश्य सा हो सकता है। भक्ति में ऐसी सामर्थ्य है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार[१२] में ये ही भाव निम्नानुसार व्यक्त करते हैं :

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्ज मज्झत्थोऽहं णावघगमप्पगं झाए ।।

अब अगला चरण है कायोत्सर्ग एवं मन्त्र-जाप का। कायोत्सर्ग ही सच्ची ध्यान की अवस्था है। विकल्पों को तोड़ने का विकल्प एवं भक्तिभाव का विकल्प भी इस चरण में न्यून हो जाता है। अपनी काया से भी पृथक् मात्र अपने चेतन-तत्त्व में स्थित होने का यह अवसर है। कायोत्सर्ग का अर्थ मात्र कायोत्सर्ग पाठ पढ़ना नहीं है। भोजन बनाने की विधि पढ़ने मात्र से भोजन नहीं बनता है। आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन[१३] विशेष ध्यान देने योग्य है—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहलीसन् ।
ननुभव भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम् ।।
(समयसार कलश - २३)

इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्र अज्ञानी जिज्ञासु को उपदेश देते हुए प्रेरणा दे रहे हैं कि अरे भाई! तू तत्त्वों का कौतूहली होकर, यानी नाटक के रूप में ही सही, अपने आपको मृत मानकर एक महर्त के लिए अपने शरीर का पड़ोसी अनुभव कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कायोत्सर्ग के काल को महर्षि महेश योगी की भाषा में भावातीत ध्यान कहा जा सकता है। कर्म सिद्धान्त की भाषा में इस काल में पाप कर्मों का पुण्य में संक्रमण व कई कर्मों की निर्जरा सम्भव है। आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि मन, वाणी एवं शरीर को विश्राम मिल गया है, आक्सीजन की खपत कम हो गई है, ब्लडप्रेशर सामान्य होने की दिशा में अग्रसर हो गया है, शरीर के समस्त पुर्जों का भटकाव रुकने से शरीर के पुर्जे स्वस्थ मार्ग की ओर बढ़ने लगे हैं। दार्शनिक जे. कृष्णामूर्त्ति[१४] की भाषा में 'alert and effortess' यानी 'सावधान किन्तु प्रयासरहित' अवस्था की उपलब्धि है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा में विकल्पजाल से रहित साक्षात् अमृत पीने वाली अवस्था है।[१५] यह विश्व के ऊपर तैरने वाली अवस्था है जिसमें न तो कर्म किया जा रहा होता है और न ही प्रमाद होता है।[१६] अध्यात्म की भाषा में ध्यान, ध्याता एवं ध्येय में अभेदपने की अवस्था है। भक्ति की भाषा में— 'पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजां'।[१७]

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि क्या इस स्तर की सामायिक हमसे सम्भव है? इसका उत्तर यही है कि प्रारम्भ में कठिन होता है। इसमें अभ्यास की आवश्यकता है। प्रारम्भ में विकल्प अधिक आते हैं किन्तु विकल्पों से थोड़ा भी परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। जैसे ही लगे कि विकल्प में हम उलझ गये हैं वैसे ही प्रभुनाम के मन्त्र के सहारे पर मन लगाना चाहिए। ज्यों-ज्यों ज्ञाता-द्रष्टा भाव यानी साक्षीभाव विकल्पों के प्रति अपनाते रहेंगे त्यों-त्यों हमारी सामर्थ्य बढ़ती जायेगी। ५ मिनट से प्रारम्भ करते हुए कायोत्सर्ग का काल कुछ महीनों के अभ्यास के बाद २०-२५ मिनट तक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा सम्भव है, इस बात की पुष्टि पूर्व वर्णित अमरीकन मेडिकल ऐशोसिएशन की पुस्तक भी करती है।

इतना सब पढ़ने के बाद ऐसा भी किसी को लग सकता है कि ऐसा वर्णन तो मुनियों के लिए सुनने में आता है। गृहस्थ अवस्था में इतना कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर स्वयं अनुभव करके या शास्त्रों से प्राप्त किया जा सकता है। आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार में स्पष्ट रूप से लिखते हैं[१८]—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम् ।।
(रत्नकरण्डश्रावकाचार - १०२)

इसका अर्थ यह है कि सामायिक के समय गृहस्थ के आरम्भ एवं परिग्रह नहीं रहते हैं अतः उस समय गृहस्थ भी ऐसे ध्यानस्थ मुनि की तरह हो जाता है, जिस पर किसी ने उपसर्ग किया हो और कपड़े डाल दिए हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ इतना विशेष है कि ये कथन चरणानुयोग की अपेक्षा हैं। करणानुयोग की अपेक्षा गृहस्थ एवं मुनि में बहुत अन्तर रहता ही है।

४. सामायिक एवं ध्यान

आधुनिक प्रचलित ध्यान में किसी शब्द या चित्र या दृश्य के सहारे या बिना किसी सहारे अपने मस्तिष्क को विकल्पों से बचाया जाता है। सामायिक क्रिया में भी अन्ततोगत्वा निर्विकल्पता पर ही जोर है। फिर भी निम्नांकित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं :

१. अरिहंत की ध्यानस्थ मूर्त्ति के दर्शन जिसने किए हैं और बार-बार जिसे दर्शन करने का सुअवसर प्राप्त होता है उसके लिए ध्यान की दशा की प्राप्ति अधिक सरल हो सकती है।

२. माना कि धन १०० रु. है और धन १०० रु. है, इन दोनों में बहुत अन्तर है। अध्यात्म में यह मानने की आवश्यकता नहीं होती है कि मैं देह, मन, वाणी आदि से भिन्न हूँ। अध्यात्म में तो इसे एक सच्चाई के रूप में स्वीकारा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार[११] में कहते हैं—

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषां।

कर्त्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् ।।

(प्रवचनसार संस्कृत छाया - १६०)

इसका भावार्थ यह है कि मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ, न इनका कारण हूँ, न इनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, और न ही करने वाले की अनुमोदना करने वाला हूँ। इस प्रकार के ज्ञान एवं आस्था से सामायिक प्रतिक्रमण आदि, भाव जाग्रत होना सरल हो जाते हैं एवं इससे विकल्पों में कमी अधिक सरलता से की जाती है। भौतिकवादी को इसके विपरीत स्थूल विकल्पों का ध्यान की प्रक्रिया में कुछ मिनट के लिए भी उपशय करना अधिक कठिन होता है।

३. सामायिक को प्रतिदिन करने की शिक्षा एवं संस्कार जहाँ हजारों वर्ष से दिये जाते हों वहाँ उसमें आस्था होने पर ध्यान का कार्य भी सुगम हो सकता है।

४. उपसंहार

सारांश यह है कि हृदय रोग, ब्लडप्रेशर, अनिद्रा, तनाव, कैंसर, एलर्जी आदि कई बीमारियों से बचाव एवं छुटकारा पाने तथा आत्म शान्ति एवं आध्यात्मिक लाभ हेतु प्रतिदिन एक-दो बार, एक-दो घड़ी के लिए एकान्त में बैठकर शरीर, मन एवं वाणी को एक साथ विश्राम देने का अभ्यास करना चाहिए। सामायिक के रूप में ऐसा करने का उपदेश जैनाचार्यों ने हजारों वर्षों पूर्व दिया है। यही बात आज के वैज्ञानिक एवं डॉक्टर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी मेडिटेशन या ध्यान की शब्दावली में कह रहे हैं। जिसका लाभ प्रयोगों द्वारा वर्तमान में देखा जा चुका है। नाम हम चाहे जो दें, मेडिटेशन कहें या भावातीत ध्यान कहे, प्रेक्षाध्यान करें या सामायिकध्यान कहें, महत्त्वपूर्ण यह है कि इसे हम जीवन में भौतिक एवं आत्मिक लाभ हेतु अपनाएँ।

सन्दर्भ

१. Robert Anthony, 'The ultimate secrets of total self confidence', (Berkley Books, New York, 1984)

२. Deepak Chopra, 'Perfect Health', (Harmony Books, New York, 1991)

३. The American Medical Association : Family Medical Guide, (Random House, New York, 1987).

४. सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसापराययथाख्यातमिति चारित्रं।
आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र ९.१८

५. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमांतर्मुहूर्तात्।। ९.२७
तत्त्वार्थसूत्र ९.२७

६. आचार्य कुन्दकुन्द, चारित्रपाहुड - गाथा २२

७. बुध महाचन्द्र कृत सामायिक पाठ, 'कालं अनन्त भ्रम्यो जग में.....

८. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा ३८३

९. समयसार गाथा क्रं. ३८४ से ३८६

१०. आचार्य योगीन्दुदेव, योगसार, गाथा १००

११. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा १५९

१२. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, गाथा २३३

१३. आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश २३

१४. Asit Chandmal, The Times of India : The Sunday Reviews (Delhi) July 30, 1985, Page 8.
"*Krishnamurti said, 'Be totally alert, and make no effort.'.*"

१५. आचार्य अमृचतन्द्र, समयसार कलश क्रं. ६९ की अन्तिम २ पंक्तियाँ निम्नानुसार हैं:
''विकल्पजात्कच्यतशान्तचित्तास्तएव साक्षादमृतं पिबंति''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार कलश क्रं. १११ की अन्तिम २ पंक्तियाँ निम्नानुसार हैं :

"विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंत: स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च"

१७. आचार्य मानतुंग, आदिनाथ स्तोत्र, श्लोक क्र. ७

१९. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक क्र. १०२

१९. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार गाथा क्र. १६०

प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)
(बी.- २२० विवेकानन्द कालोनी, उज्जैन म. प्र. ४५६ ०१०

●

प्रार्थनाएँ

हृद्-वीणा से नि:सृत मौन मुखरित प्रार्थना के स्वर,
भाव प्रधान हैं वरदान हैं।
शून्य में तैरती प्रार्थनाएँ

ससीम असीम से जुड़ती हैं, जीवन की दिशाएँ

निरपेक्ष सौन्दर्य की ओर मुड़ती है,

जहाँ— जन्म-मृत्यु का कोलाहल नहीं, अभिनव तट पर जाकर रुकती हैं।

—महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

सत्य लिखे

समय का सन्धि-पत्र
सत्य की किरण लिखे,
समय के दर्पण में,
बिम्ब-प्रतिबिम्ब दिखे।

—महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

त्रिरत्न, सर्वोदय और सम्पूर्ण क्रान्ति

डॉ. धूपनाथ प्रसाद

सम्पूर्ण भारतीयदर्शन में जैनदर्शन का अपना एक अलग स्थान है, इसके चिन्तन में सजीव-अजीव सभी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, जैनदर्शन वैयक्तिक नहीं, समष्टि में विश्वास करता है, 'अनेकान्त' इसका द्योतक है। सभी दर्शनों में मोक्षप्राप्ति के अलग-अलग मार्ग बताये गये हैं। जैनदर्शन में मोक्ष प्राप्ति का मार्ग सम्पूर्णता का द्योतक है यहाँ 'सम्यक्' शब्द प्रतिष्ठित है, 'सम्यक्' सम्पूर्ण, सब ओर या यों कहें चारों तरफ से चातुर्दिक विकास के बाद का प्राप्त किया हुआ परिणाम है। यह 'त्रिरत्न' में प्रतिष्ठित है— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र. 'त्रिरत्न' शब्द भी हमें पूर्णता का बोध कराता है जैसे— त्रिकाल, त्रिभुवन, त्रिलोक— यह सब अपने-अपने क्षेत्र में सम्पूर्ण शब्द हैं। पुरस्कार या परिणाम (Result) में भी तीन ही का महत्त्व है— प्रथम, द्वितीय और तृतीय। किसी भी भाषा के व्याकरण (Grammar) की चर्चा में पुरुष (Person) भी तीन ही बताये गये हैं— प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष. कहने का तात्पर्य यह है कि तीन के बाद की कोई भी स्थिति सामान्य है, जो पूर्ण भी है, अपूर्ण भी।

सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की विकास यात्रा में हम देखते हैं कि त्रिविध कल्पना का बड़ा महत्त्व है और वह सभी कालों (Tense) से पूर्णता की ओर संकेत करता है। हमारा ध्यातव्य यहाँ 'सम्यक्' शब्द से है, जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र से जुड़कर जैनदर्शन में 'त्रिरत्न' के रूप में प्रतिष्ठित है और मोक्ष-मार्ग की विशद व्याख्या करने में समर्थ है। हमारा उद्देश्य इससे अलग न होकर इसमें विस्तार पाने का है।

'हिन्दी शब्द सागर'[१] में 'सम्यक्' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं जो 'सम्यक्' शब्द की पूरी संरचना और व्याख्या करने हेतु यथेष्ट हैं। **संज्ञा (संस्कृत पुलिंग) के रूप में 'सम्यक्** का अर्थ है— समुदाय, समूह।

'सम्यक्' विशेषण के रूप में ये अर्थ ग्रहण करता है— पूरा, समस्त, सब, सही, युक्त, ठीक, उचित, शुद्ध, सत्य, यथार्थ, सुहावना, रुचिकर, एकरूप, साथ जीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या मरने वाला और **सम्यक् क्रिया-विशेषण** से अभिप्राय है— सब प्रकारसे, अच्छी तरह, भली-भाँति, उचित रूप से, सही ढंग से, स्पष्ट रूप से सम्मानपूर्वक, सचमुच आदि।

पुनः जब हम 'सम्यक्' शब्द को तोड़कर देखते हैं तब सम् + यक् के अनुसार 'सम' एक अव्यय के रूप में है जिसका व्यवहार शोभा, समानता, संगति, उत्कृष्टता, निरंतरता, औचित्य आदि सूचित करने के लिए शब्द के आरम्भ में होता है। जैसे— सम् + भोग = संभोग, सम् + योग = संयोग, सम् + तुष्ट = संतुष्ट।

'यक् का अर्थ एक से लिया जाता है। फारसी में यक का अर्थ एक होता है जो संख्यावाची विशेषण के रूप में व्यक्त है। इन तमाम उदाहरणों से 'सम्यक्' शब्द का संकुचित अर्थ विस्तार पा जाता है। अब हम दर्शन, ज्ञान और चारित्र की चर्चा करेंगे जो सम्यक् के साथ जैन दर्शन में प्रतिष्ठित है।

'**दर्शन**' का साधारण भाषा में अर्थ देखना है। दार्शनिक प्रक्रिया का उद्देश्य समस्त ब्रह्माण्ड को एक साथ देखना या सम्पूर्ण दृष्टि प्राप्त करना है।[२] विशेष अर्थों में कहें तो सातों तत्त्वों और आत्मा आदि में पूरी-पूरी श्रद्धा होना दर्शन। जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष— ये सात प्रकार के तत्त्व माने गये हैं, इन्हीं के प्रति पूरी श्रद्धा रखना।

'**ज्ञान**' का तात्पर्य जानने से है और विशेष सन्दर्भों में इसका अभिप्राय है न्याय, प्रमाण द्वारा प्रमाणित सात या नौ तत्त्वों का ठीक-ठीक और पूरा ज्ञान।

ज्ञातव्य हो कि 'सात' या 'नौ' दोनों ही अंक पूर्णता के बोधक हैं। साथ ही 'सात' का सम्बन्ध जीवन के सम्पूर्ण परिचर्या से भी जुड़ा हुआ है। सात दिनों का सप्ताह होना, सात रंगों का होना, ज्ञान और प्रकाशीय ऊर्जा के द्योतक सूर्य के रथ में सात घोड़ों का होना, संगीत के सप्तस्वर, सप्त-ऋषि, सप्तर्षि पिण्ड, सप्तसिंधु आदि तमाम में 'सात' हमारे आध्यात्मिक और व्यावहारिक जीवन में सम्पूर्णता का बोध कराता है और यही हमारी सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान को परिचालित करती है। मसलन, किसी भी वस्तु या विषय को सम्पूर्ण देखे बिना उसकी सही जानकारी नहीं होती। जब हमारी दृष्टि सम्पूर्ण होती है तभी हमें सम्पूर्ण या सही जानकारी मिलती है। इसी सन्दर्भ में सम्यक् दर्शन हमें सम्यक् ज्ञान की ओर ले जाता है और जब सम्यक् दर्शन और ज्ञान की गंगा हमारे भीतर प्रवाहित होने लगती है तब हमारा चारित्र स्वयं ही सही, शुद्ध और सम्यक् हो जाता है। बहुत ही धर्म तथा शुद्धतापूर्ण आचरण करना ही '**चारित्र**' है। यानि सम्पूर्ण रूप से, पूरी तरह शुद्ध आचरण ही सम्यक् चारित्र है। दर्शन की भाषा में संवर और निर्जरा के निमित्त से सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान के आधार पर जो आचरण होता है, उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं।[३] हमारा तात्पर्य 'सम्यक्' से सम्पूर्णता का बोध कराना है, क्योंकि बिना सम्पूर्ण दर्शन और ज्ञान के शुद्ध चारित्र की कल्पना बेमानी होगी। पूर्व वर्णित 'सम्यक्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द को देखें तो चाहे संज्ञा रूप हो, विशेषण रूप में हो या फिर क्रिया-विशेषण रूप में, सबमें अपनी अपनी पूर्णता का बोध कराता है— सब प्रकार से, समस्त, पूरा, एकरूप आदि। यही हमारी सम्पूर्ण दृष्टि है या सम्यक् दर्शन है। 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चारित्र' तीनों शब्द संज्ञा अर्थ में अपनी पूर्णता लिए हुए प्रमाणित हैं और 'सम्यक्' शब्द से जुड़कर विशेषणात्मक संज्ञा के रूप में अपने अर्थ सन्दर्भ में और भी विस्तृत हो जाते हैं जो चातुर्दिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यही चातुर्दिक विकास समाज दर्शन का स्वरूप हैं। जैनदर्शन में 'सम्यक्' शब्द का यही अर्थ-विस्तार नहीं हुआ है और मेरा दृष्टिकोण इसी अर्थ-संकुचन से अर्थविस्तार की ओर अग्रसर होना है।

'गाँधी परम्परा में अहिंसा का अध्ययन' के दौरान आचार्य विनोबा और जयप्रकाश नारायण के अहिंसात्मक विचार क्रमशः 'सर्वोदय' एवं 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के अध्ययनोपरान्त यह पटाक्षेप हुआ कि जैन दर्शन का 'त्रिरत्न' कही-न-कहीं से इस सामाजिक चिन्तन में प्रसरित है। मेरा आशय कोई बलात् तुलनात्मक अध्ययन करना नहीं है। चूँकि शब्दों का अपना जीवन होता है। शब्द भी हँसते, बोलते और अपनी अर्थता बताते हैं। ध्वनि विज्ञान के अनुसार शब्दों का उच्चारण ही अपनी सम्पूर्ण अर्थ छटाओं को व्यक्त कर देते हैं। 'सम्यक्' भी अपनी अर्थछटाओं से 'सर्वोदय' और 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की ओर संकेत करता है और उसमें भी दर्शन, ज्ञान और चारित्र जोड़कर सर्वोदय के तत्त्व-दर्शन को और भी पुष्ट बनाता है। चूँकि जबतक सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मानव जाति में विकास नहीं होगा सर्वोदय-कल्पना निरर्थक है। सर्वोदय अपने अर्थ में सबका उदय लिये हुए है और सबका उदय तभी होगा जब सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र से मानवजाति आच्छादित हो। अब सवाल उठता है कि 'सर्वोदय' शब्द आया कहाँ से? यह सर्वविदित है कि गाँधी जी ने रस्किन की पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' (Unto the Last) का अनुवाद किया था। उन्होंने उसका 'सर्वोदय' नाम रखा था, जिसमें बतलाया गया है कि सबका मानवीय अधिकार समान हो। उसी को गाँधी जी ने सर्वोदय का विचार कहा, परन्तु इसके पूर्व यह शब्द कहाँ मिलता है यह अज्ञात है। स्पष्टतः हम जैनदर्शन के प्रति आभारी हैं। चूँकि इसके पूर्व यह शब्द संस्कृत के प्रामाणिक शब्दकोषों में भी नहीं मिलता। बल्कि अनेकान्त-स्थापन युग में स्वामी समन्तभद्र ने अपनी पुस्तक 'युक्त्यानुशासन' में 'सर्वोदय-तीर्थ' का प्रयोग किया है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।६१।।

यहाँ सर्वोदयतीर्थ विचार-तीर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सम्भव है यह विचारधारा गाँधी के 'सर्वोदय' का विचार बनी, जो विनोबा के चिन्तन से प्रतिफलित हुआ। यहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञातव्य है कि गाँधी जी के मित्र और मार्गदर्शक जैन जीवन-चर्या के साधक, श्रीमद्राजचन्द्र राजीव भाई मेहता थे।[४]

सर्वोदय का मूलाधार समानता है और उसकी संस्कृति समन्वय की है यही विश्व को भारतीय संस्कृति की देन है। समन्वय आज का युग-धर्म है। सर्वोदय उससे अलग नहीं है। दृष्टि अनेकात्मक है। हम इसे यों समझें—

सर्वोदय-तीर्थ = समन्वय-तीर्थ = अनेकान्त

'अनेकान्त' शब्द 'अनेक' तथा 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है—

अनेक + अन्त

अनेक = एक से अधिक, दो या फिर अनन्त या सबका या सम्पूर्ण

अन्त = धर्म या गुण (Last result of object or thought) और ये सारी बातें बिना सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्भव नहीं हैं। समानता और समन्वय की बात सम्यक् में सम्पुष्ट है। इसप्रकार हम देखते हैं कि सर्वोदय में 'त्रिरत्न' और 'अनेकान्त पूर्णरूप से प्रतिफलित होते हैं।

ठीक इसी प्रकार 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के साथ उपयुक्त विचारों का प्रसरण होता है। Dictionary of Philosophy[५] में क्रान्ति को सामाजिक जीवन का वह बिन्दु माना गया है जहाँ से 'सम्पूर्ण' समाज में परिवर्तन प्रारम्भ होता है। केवल राजसत्ता में परिवर्तन को ही क्रान्ति कहा जाय, यह गलत है। मार्क्स के पहले 'समग्र जीवन' में आमूल परिवर्तन का वैज्ञानिक अध्ययन, शायद नहीं हुआ। प्लेटो की 'रिपब्लिक', गाँधी का 'रामराज्य', थॉमसमूर की 'यूटोपिया' आदि इसी प्रकार के प्रयत्न हैं। 'सम्पूर्ण क्रान्ति' में गाँधी का तेजस्वी पुनर्जन्म' और 'सर्वोदय' का सम्पूर्ण दर्शन समाहित हो गया। विचार क्रान्ति की सारी प्रक्रियाएँ समाहित हो गईं। वैचारिक आधार पर समाज के सभी अंगों में ऐसा परिवर्तन जिसमें समता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व की भावना पर नये समाज की रचना हो और एक नये मनुष्य का निर्माण हो सके। अब इस 'नये मनुष्य' के निर्माण के लिए हमारी भावनाएँ 'समन्वय' की होनी चाहिए। हमारा विचार 'समानता' का और दृष्टि अनेकान्त की ऐसी भावनाएँ, ऐसा विचार और ऐसी दृष्टि हमें 'त्रिरत्न' की सार्वभौम व्याख्या से ही मिल सकती है और इसी सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी से ही सम्पूर्ण समन्वय की भावनाएँ प्रवाहित होंगीं। समानता का विचार तरंगित होगा और हमारी दृष्टि बिहंगम होगी, तभी 'नये मनुष्य' का निर्माण सम्भव है। इस नये मनुष्य के निर्माण के लिए जयप्रकाश नारायण ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के सात आयाम दिये (यहाँ भी 'सात' सम्पूर्ण विकास/ सम्यक् विकास का क्रमशः बोध कराता है।) सामाजिक क्रान्ति, राजनैतिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, शैक्षिक क्रान्ति, वैचारिक क्रान्ति, सांस्कृतिक क्रान्ति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक क्रान्ति। इन सात आयामों का उद्देश्य सूरज की सप्तरंगी किरणों से आलोकित होकर सबको जगने, जगाने और जगे रहने का आह्वान है और यह जागृति हमारे अन्दर सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही आयेगी। इस तरह हम देखते हैं कि 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के सारे तत्त्व 'त्रिरत्न' के चिन्तन पर आधारित हैं। बिना इसके न मनुष्य का सामाजिक विकास होगा न आध्यात्मिक। वस्तुत: श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की यह त्रिविध साधना ही सम्यक् साधना है, जो सामाजिक चिन्तन के 'त्र्यम्बक' गाँधी, विनोबा और जयप्रकाश में प्रसरित होती गई। अन्तत: जैन दर्शन में वर्णित 'त्रिरत्न' की शाब्दिक और तात्त्विक विवेचना के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र 'सर्वोदय' और 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के चिन्तन में प्रवाहित होकर सम्पूर्ण सामाजिक चेतना का बोध कराते हैं। जरूरत है त्रिरत्न को आध्यात्मिक खेमे से बाहर निकालने की, तभी 'सम्यक्' शब्द के साथ न्याय होगा और 'त्रिरत्न' सामाजिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

सन्दर्भ

१. हिन्दी शब्द सागर, नागरी प्रचारीणी सभा, वाराणसी, १९७३, सं. श्यामसुन्दरदास

२. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, डॉ. देवराज, इलाहाबाद, १९४१। पृ. १६९

३. भारतीय दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त, डॉ. बी. एन सिन्हा, वाराणसी, १९८२पृ. ११४,

४. श्रमण. अक्टूबर-दिसम्बर, १९९५, डॉ. सुरेन्द्र वर्मा का लेख पृ.-१,

५. Dictionary of Philosophy, मास्को, 1967

एम.ए. (अन्तिम वर्ष)
अहिंसा, शान्ति और मूल्य शिक्षा विभाग,
पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
वाराणसी - २२१००५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

महात्मा गांधी का मानवतावादी राजनीतिक चिन्तन और जैन-दर्शन : एक समीक्षात्मक विवेचन

डॉ. उषा सिंह

महात्मा गांधी का मानवतावादी राजनीतिक चिन्तन परम्परावादी भारतीय-दर्शन और संस्कृति का परिणाम है। इनके राजनीतिक चिन्तन पर वैष्णव धर्म, बौद्धधर्म, ईसाईधर्म तथा अन्य धर्मों का प्रभाव तो पड़ा ही है, किन्तु इन सभी धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म या दर्शन का प्रभाव विशेषरूप से देखने में आता है क्योंकि जिस 'सत्य-अहिंसा' के आधार पर गांधी ने अपने राजनीतिक विचार की नींव दी है, वह जैन-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित है। राजनीति गांधी को धर्म और आचारशास्त्र के एक अंग के रूप में मान्य है। राजनीति को धर्म और आचारशास्त्र पर आधारित करने में गांधी का एक मात्र उद्देश्य यही रहा है कि इसके द्वारा मानव-सेवा हो सकती है। राजनीति मानव सेवा करने का एक शस्त्र है। अत: गांधी राजनीति को धर्मसम्मत कर मानव-सेवा करना चाहते थे। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने कार्यों को शुद्ध बनाये। धर्म मनुष्य की इस शुद्धता के लिए आग्रह ही तो है और यदि प्रत्येक राजनीतिज्ञ इस आग्रह को स्वीकार कर ले तो मानव जाति सुखमय स्थिति में पहुँच सकती है।

गांधी अपनी समस्त राजनीतिक क्रियाओं में इसी आदर्श की अनुमति को सहेजते हैं। उनके लिए सत्य धर्म है, अहिंसा कर्म है और सत्याग्रह साधन है। व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के नाते उनके जीवन में इन्हीं तत्त्वों का समावेश मिलता है। उनके चिन्तन में अनैतिक साधनों के लिए कोई स्थान नहीं है। गांधी के चिन्तन में परम्परावादी राजनीतिक चिन्तकों के विचारों से जो भिन्नता हमें देखने को मिलती है, उसका एक मात्र कारण जैनों का मानवतावादी दर्शन कहा जा सकता है। गांधी के राजनीतिक चिन्तन पर इस दर्शन का प्रभाव किस रूप में पड़ा है, इसकी व्याख्या करना ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय-दार्शनिक सम्प्रदायों में जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन ''सत्य और अहिंसा'' पर विशेष महत्त्व देता है और इसका आधार उनका महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचार 'अनेकान्तवाद' है। जैनों के अनुसार कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती। प्रत्येक तत्त्व में अनेकरूपता स्वभावत: होनी चाहिए और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नहीं कर सकती। 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु' (स्याद्वादमंजरी २२ की टीका) इसी पर आधारित है जिसे 'अनेकान्त-दर्शन' का आधार कहा जा सकता है। अपने अनेकान्तवादी सिद्धान्त के आधार पर जैन दर्शन सभी व्यक्तियों तथा धर्मों को समान आदर देता है।

बौद्धिक स्तर पर इस सिद्धान्त को मान लेने से नैतिक और लौकिक व्यवहार में उल्लेखनीय परिवर्तन आ जाता है। चरित्र ही मानव जीवन का सार है। चरित्र के लिए मौलिक आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य एक ओर तो अभिमान से अपने को पृथक् रखे, साथ ही हीन भावना से अपने को बचाये। नैतिक समुत्थान में व्यक्तित्व का समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन-दर्शन का महत्त्व इसी सिद्धान्त के आधार पर है कि उसमें व्यक्तित्व का समादर निहित है। जहाँ व्यक्तित्व का समादर होता है वहाँ स्वभावत: साम्प्रदायिक संकीर्णता, संघर्ष या किसी भी जनजाति, अल्प, वितण्डा आदि असदुपाय में वादिपराजय की प्रवृत्ति नहीं रह सकती। व्यावहारिक जीवन में भी खण्डन के स्थान पर समन्वयात्मक निर्माण की प्रवृत्ति वहाँ रहती है। साध्य की पवित्रता के साथ साधन की पवित्रता का महान आदर्श भी उक्त सिद्धान्त के साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्त-दर्शन नैतिक उत्कर्ष के साथ-साथ व्यावहारिक शुद्धि के लिए भी जैन-दर्शन की एक महान देन है। विचार जगत् का अनेकान्त-दर्शन ही नैतिक जगत् में अहिंसा-सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है।

इसप्रकार भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में अथवा परमतसहिष्णुता के रूप में अथवा समन्वयात्मक भावना के रूप में जैन-दर्शन की जो देन है उसका प्रभाव गांधी के राजनीतिक चिन्तन पर अवश्य पड़ा है। जैनों के इस अनेकान्त-दृष्टि को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कोई प्रश्न चाहे सामाजिक या राजनीतिक या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का ही क्यों न हो, दृष्टि-भेद के कारण ही सारा मतभेद होता है जो आगे चलकर सभी प्रकार की हिंसात्मक वृत्तियों को जन्म देता है।

अत: मेरी दृष्टि में महात्मा गांधी के राजनीतिक चिन्तन को जैन-दार्शनिकों के अनेकान्त दर्शन ने जितना प्रभावित किया है, अन्य कोई भी विचार नहीं। दूसरे के विचारो को आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखना, सभी जीवों का आदर करना, उन्हें दु:ख या कष्ट न देना, उनके प्रति प्रेम रखना आदि जो जैनों के सिद्धान्त हैं उसे गांधी ने अपने राजनीतिक-क्षेत्र में बड़ी खूबी से पालन किया है। गांधी का आदर्श-राज्य के रूप में ''राम राज्य'' की कल्पना तथा 'सत्याग्रह' का सिद्धान्त जैनों के 'सत्य-अहिंसा' सिद्धान्त पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधारित है। जैन-दर्शन में नैतिक आचरण के लिए जिन 'व्रतों' का पालन आवश्यक है उसे गांधी भी राजनीतिक क्षेत्र में नैतिक आचरण के लिए आवश्यक मानते हैं। वस्तुत: गांधी ने किसी नवीन दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन न करके केवल प्राचीन जैन-दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने का प्रयास किया है। गांधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि संसार को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ भी नया नहीं है। सत्य और अहिंसा बहुत प्राचीन सिद्धान्त है जिसका यथासंभव विस्तृत रूप में मैंने केवल प्रयोग करने का प्रयास किया है।

महात्मा गांधी के ऊपर जैन-दर्शन के अनेकान्तवादी और अहिंसावादी विचारों का प्रभाव बाल्यावस्था से ही पड़ा था। गांधी का पारिवारिक वातावरण ही ऐसा था जहाँ जैन-दर्शन का प्रभाव था। गांधी के पिता के वैष्णव होने के बावजूद उनका सम्पर्क जैन मुनियों के साथ था। जैन मुनि गांधी के घर पर प्राय: आते रहते थे तथा उनके पिता से धर्म सम्बन्धी व्यावहारिक वार्ता करते थे जिसका प्रभाव गांधी के ऊपर पड़ा। गांधी ने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है— "जैनभिक्षु प्राय: मेरे घर पर पिता जी से मिलने आते थे तथा भोजन भी करते थे। वे धर्म सम्बन्धी तथा अन्य विषयों पर वार्ता भी किया करते थे।"[१]

गांधी का जन्म गुजरात प्रान्त में हुआ था जो जैनों के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।[२] चूँकि गुजरात की भूमि जैनियों से प्रभावित भूमि थी, अत: इस भूमि पर गांधी जन्म लेने के कारण जैनों के विचार से अछूते नहीं रहे।[३] गोपीनाथ धवन ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है— "भारत के किसी भी प्रान्त के ऊपर जैन-दर्शन का उतना प्रभाव नहीं था जितना कि गुजरात के लोगों पर था, जहाँ गांधी का जन्म और विकास हुआ।"[४]

महात्मा गांधी को जीवन के आरम्भ में जैन-दर्शन का ही शास्त्रीय ज्ञान हुआ। इसके दो कारण हैं— प्रथम जैसा कि पहले लिखा गया है, उनके जन्म स्थान के आस-पास सदियों से जैन विचारधारा का बहुत प्रचार था। द्वितीय यह कि उन्हें श्रीमद्राजचन्द्र भाई से बड़ी प्रेरणा मिली थी, जो उत्कृष्ट जैन साधक थे।[५] बाल्यावस्था में इन्हीं दो स्रोतों से गांधी को जैन विभज्यवाद की जानकारी हुई और उन्होंने जैन-तत्त्ववाद में विश्वास किया।

गांधी जी अपने पड़ोसियों और खासकर अपनी मां से 'सत्यमेव जयते' और 'अहिंसा परमो धर्म:' का मन्त्र सुना करते थे। सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त यों तो सम्पूर्ण हिन्दू-समाज को मान्य है, फिर भी जिस निष्ठा एवं कठोरता के साथ इस सिद्धान्त का पालन जैन-समाज करता है, वह अद्भुत है। जैन समाज की इसी अहिंसा भावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने गांधी की जन्मभूमि में रहने वाले गुजरातियों को भी अहिंसक और खान-पान में निरामिष भोजी बना दिया। डॉ. डी. एम. दत्त के अनुसार गांधी का जन्म एवं विकास इसी वातावरण में हुआ।[६]

महात्मा गांधी को जैन-दर्शन से प्रभावित होने का एक कारण यह भी है कि महावीर, जो जैन-दर्शन के २४वें तीर्थंकर हैं तथा जिन्होंने जैन-दर्शन को पुष्पित एवं पल्लवित किया, का जन्म-विकास और अवसान हिन्दू परम्परा में ही हुआ था। इस कारण हिन्दुओं ने उनके प्रति आदर व्यक्त किया है। हिन्दूधर्म और जैनधर्म में कुछ बातों में समानता मिलती है। गांधी के अनुसार कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार हम जैनधर्म में पाते हैं, जिस पर हिन्दू धर्म का प्रेम भाव अभिव्यक्त होता है। भ. महावीर ने जीवन के नैतिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है। गांधी भी महावीर की तरह नैतिक जीवन की महत्ता स्वीकार करते हैं। नैतिक आचरण मनुष्य की आत्मा को पवित्र एवं पुनीत बनाता है। महावीर ने जाति-प्रथा एवं वर्णभेद को मिटाकर एक समन्वयवादी समाज की संरचना की है। जैन-मुनियों में कोई भी ऊँच-नीच, छूत या अछूत नहीं माना जाता है। गांधी भी महावीर के इस सिद्धान्त से सहमत हैं। यही कारण है कि गांधी ने जातिया धर्म के नाम पर वर्ग-विभेद के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त, गांधी के जीवन-दर्शन या राजनीतिक चिन्तन पर जैनदर्शन की तीन बातों ने अत्यधिक प्रभावित किया है।[७] वे हैं अनेकान्तवाद, अहिंसावाद और नैतिक आचरण रूप में व्रत सिद्धान्त। गांधी ने अनेकान्तवाद के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है— "मैं इस सिद्धान्त (अनेकान्तवाद) को बहुत अधिक पसन्द करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे सिखाया है कि मुसलमान को उसकी दृष्टि से जांचना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से।"[८] डॉ. आशा रानी[९] ने भी इस बात की पुष्टि की है कि जैनियों के अनेकान्तवाद ने गांधी को अत्यधिक प्रभावित किया है। गांधी ने सत्य की व्याख्या करने वाले विभिन्न धर्मों में जो एकता की बात कही है वह इसी अनेकान्तवाद का परिणाम है। राजनीतिक क्षेत्र में भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को वे एक ही ईश्वर की सन्तान होने के कारण समान दृष्टि से देखते हैं। जाति, धर्म, अमीर-गरीब, उच्च-नीच का भेद-भाव इन्होंने नहीं किया है। गांधी ने अपने 'सत्याग्रह' सिद्धान्त में भी जैनदर्शन के सापेक्षवाद का अनुसरण किया है। इसका समर्थन गांधी के २१ जनवरी, १९२६ के 'यंग इंडियां' में प्रकाशित उस लेख से हो जाता है जिसमें उन्होंने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है कि किसी भी कथन में सत्यता सापेक्ष होती है। एक ही कथन एक के लिए सही और दूसरे के लिए भिन्न परिस्थिति में गलत हो जाता है। अत: यहाँ पर हमें जैनों के स्याद्वाद का आश्रय लेना चाहिए। इसी के आधार पर गांधी ने कहा है कि मैं हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि सबों को समान आदर भाव से देखता हूँ तथा मैं दूसरों से उसी रूप में अपेक्षा रखता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा गांधी को जैनदर्शन के 'नय सिद्धान्त' ने भी अत्यधिक प्रभावित किया है। जैनदर्शन आंशिक कथन या निर्णय को 'नय' कहता है। 'नय' दो प्रकार के होते हैं— दुर्नय और सुनय या प्रमाणनय। दुर्नय गलत कथन को कहा जाता है और सुनय या प्रमाणनय सही कथन को। प्रमाणनय के अनुसार सभी व्यक्तियों को अपने-अपने दृष्टिकोण से समझना चाहिए। गांधी जब स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं तो वे प्रमाणनय को न लेकर सिर्फ 'नय' को ही लेते हैं, परन्तु इसका अर्थ वे ठीक वैसे ही लगाते हैं जैसे जैन-दार्शनिक प्रमाणनय में लगाते हैं। गांधी को राजनीतिकक्षेत्र में इससे लोगों को समझने में बड़ी मदद मिली।

अनेकान्तवाद की तरह जैनदर्शन के अहिंसा-सिद्धान्त ने गांधी को अत्यधिक प्रभावित किया। जैनदर्शन अहिंसा को मन, वचन और कर्म तीनों दृष्टियों से करने की सलाह देता है। जैनदर्शन की तरह गांधी ने भी अहिंसा का पालन मन, वचन और कर्म से करने की बात की है।[१०] इसी प्रकार जैनों के पंचमहाव्रतों ने भी गांधी को प्रभावित किया है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के रूप में 'पंचमहाव्रत' का पालन मुक्ति के लिए जैन दर्शन में आवश्यक माना गया है। जिसे गांधी ने भी अपने राजनीतिक चिन्तन के क्रम में पालन किया है। गांधी का असहयोग आन्दोलन, गांवों के पुनरुद्धार और विकेन्द्रीकरण तथा सत्याग्रह सिद्धान्त, ये सभी जैन के आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार गाँधी के आदर्श राज्य के रूप में रामराज्य की कल्पना जैनों के सर्वोदय सिद्धान्त पर आधारित है।

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि गांधी के मानवतावादी राजनीतिक चिन्तन पर जैनदर्शन का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। कुछ आलोचक यह अवश्य कह सकते हैं कि गांधी के राजनीतिक चिन्तन पर जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तकों का भी प्रभाव पड़ा है। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जैनदर्शन के समन्वयवादी सिद्धान्त (अनेकान्तवाद) का ही यह परिणाम है कि वे किसी भी व्यक्ति या सिद्धान्त की सार्थकता को स्वीकार करते हैं जैसा कि जैनियों का कथन है कि न वे किसी से राग रखते हैं और न किसी से द्वेष, बल्कि जिनके भी वचन उपयुक्त लगते हैं, उसे ही वे स्वीकार कर लेते हैं।[११] यही कारण है कि गांधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने किसी नवीन दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन न करके केवल प्राचीन जैन-दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि गांधी का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन जैनों के आदर्श सिद्धान्त— अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा तथा नैतिक आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त से मूलत: प्रभावित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. गांधी : आत्मकथा, पृ. ४९

२. देखिये— एम. एस. कमीसरियत 'ए हिस्ट्री ऑफ गुर्जर', भाग-१, लांग्मेन्स, १९३८, पृ. २१

तथा

एम. के. मजमुदार, चालुक्याज़ आव गुजरात, बम्बई, १९५९, पृ. ३१४-१५

३. cf. "Jaina was strong in Gujrat and its influence was every where and all occasions. The opposite and abhorence of meat-eating that existed in Gujrat and the Jainas and Vaiśṇavas were to be seen nowhere in India or outside in such strength. There were traditions in which I was born and bread." Gandhi Autobiography, pp. 33-34.

४. देखिये— डॉ. गोपी नाथ धवन, 'द पोलिटिकल फिलासफी ऑव महात्मा गांधी, द पापुलर बुक डिपो, बम्बई, १९४६, पृ. १२।

५. cf. " I have since met many a religious leader or teacher, I have tried to meet the heads of various faiths and I must say that no one else has ever made me the impression that Rajcandra bhai did". Gandhi, Auto-biography p. 113.

६. दखिये— डॉ. डी. एम. दत्त, अनु. डॉ. रामजी सिंह, 'महात्मा गांधी का दर्शन,' बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८१, पृ.-५।

७. cf. "Three things in the Jaina system of thought influence Gandhi's out look most, these are Ahiṁsa on the religious side. Anekāntavāda or Syādvāda on the Philosophical side, and the institution of vows on the ethical side". Pyarelal, Mahatma Gandhi, early phase, Vol-I, Ahmedabad, 1965, p. 276.

८. देखिये— गांधी, हिन्दू धर्म, पृ. ६२

९. देखिये— डॉ. आशा रानी, गांधीयन, नान वायलेंस एण्ड इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल', श्री पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९३१, पृ. ५।

१०. देखिये— लूइस फिशर, 'द लाइफ ऑव महात्मा गांधी', लंदन, १९५१, पृ.- २००

११. "न मे जिने पक्षपातः न द्वेषकपिलादिषु,
युक्तिमद वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।
षड्दर्शनसमुच्चय, ४४ पर टीका, (चौखम्भा संस्करण), पृ. ३९

प्राचार्य, राजेन्द्र मेमोरियल वीमेन्स कालेज, नवादा (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

भक्त प्रत्याख्यानः सल्लेखना

-आचार्य विद्यानन्द मुनि

जीवन जीने की कला के सम्बन्ध में सभी विचारकों ने अपने विचार रखें है; किन्तु मरण को भी स्वागतयोग्य यदि किसी ने जाना है और उसके बारे में कोई विधान प्रस्तुत किया है , तो वह एकमात्र जैनदर्शन ही है। वस्तुतः **'मृत्यु केवल प्रशंसनीय ही नहीं है, अपितु निश्चय से शाश्वत कल्याण को भी उत्पन्न करने वाली होती है'**-ऐसी अवधारणा के तल पर ही जैनदर्शन ने मरण को भी मांगलिक महोत्सव बना दिया है।

नियमपूर्वक जीवन जीना और जब मरण अवश्यंभावी हो, तो बिना किसी खेद-खिन्नता के स्वयं अपने शरीर को यमराज के हाथों सौंपते हुए परिणामों को सम्भालने की विधि को जैनदर्शन में 'सल्लेखना' नाम दिया गया है। आचार्यप्रवर उमास्वामी 'तत्त्वार्थसूत्र'[1] में लिखते हैं— **''मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता''**

अर्थात् मरणकाल में अन्तिम समय निकट जाने पर विधिपूर्वक सोत्साह सल्लेखना का आयोजन करना चाहिए। संसार में मृत्यु की चर्चा भयप्रद मानी गयी है, किन्तु जैनशास्त्रों में 'सल्लेखना' की चर्चा को प्रसन्नता का निमित्त बतलाया गया है-

''सम्यक्त्वपूर्वकमुपासकधर्ममित्थं,

सल्लेखनाऽन्तमभिधाय गणेश्वरेऽत्र।

जोषं स्थिते प्रविचकास सभा समस्ता,

भानाविवोदयगिरि नलिनीति भद्रम् ।।''

अर्थ- गणधरदेव द्वारा इसप्रकार सम्यक्त्वपूर्वक उपासक धर्म का सल्लेखनान्त प्ररूपण करने पर सम्पूर्ण समवशरण सभा उसी प्रकार प्रसन्न हो उठी, जैसे कि सूर्योदय होने पर कमलिनी खिल उठती है।

सामान्यतः संसारी प्राणी को अपने प्राणों की चिन्ता रहती है; वह भली-भाँति जानता है कि मेरे चाहने से प्राण ठहरेंगे नहीं, फिर भी वह उन्हें स्थिर करना चाहता है। इसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्मिक निरूपण करते हुए 'भगवती आराधना' के टीकाकार लिखते हैं- **''जीवितं नाम प्राणधारणं; तदायुरायत्तं, न ममेच्छया वर्तते। सत्यमपि तस्यां प्राणानामनवस्थानात्। सर्व हि जगदिच्छति प्राणानामनपायं, न च तेऽवतिष्ठन्ते।''**[२]

अर्थः - प्राणधारण करने को जीवन कहते हैं; वह आयु के अधीन है, मेरी इच्छा के अधीन नहीं है। मेरी इच्छा होने पर भी प्राण नहीं ठहरते है। सम्पूर्ण जगत् चाहता हे कि उसके प्राण बने रहें, किन्तु वे नहीं रहते हैं।

विधिपूर्वक शरीर-त्याग की विधि 'सल्लेखना' के बारे में जैनदर्शन में अनेकों दृष्टियों से चिंतन प्रस्तुत किये गये हैं। यहाँ प्रमुखत: तीन बिन्दु विचारार्थ प्रस्तुत हैं—

'सल्लेखना' की समय-सीमा-

''भत्तपईण्णइ-विहि, जहण्णामंतोहमुहुत्तयं होदि।

वारिसवरिसा जेट्ठा, तम्मज्झे होदि मज्झिमया।।'[३]

अर्थः - 'भक्तप्रत्याख्यान' अर्थात् भोजन-त्याग (अन्न, खाद्य, लेह्य पदार्थों के त्याग) की प्रतिज्ञा करके जो संन्यासमरण (सल्लेखना) होता है, उसका जघन्य कालप्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है एवं उत्कृष्टतम् कालप्रमाण बारह वर्ष है। तथा अन्तर्मुर्त से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त जितने भी समय भेद हैं, वे सब सल्लेखना के मध्यमकालके भेद जानने चाहिए।

'सल्लेखना' के योग्य स्थान—

''अरिहंत-सिद्धसागर-पउमसरं खीरपुप्फ-फलभरिदं।

उज्जाण-भवण-तोरण-पासादं णाग-जक्खघरं।।''[४]

अर्थः - अरिहन्त का मन्दिर (जिनालय), सिद्धों का मन्दिर (सम्भवत: सिद्धक्षेत्र), जहाँ पर अरिहन्त-सिद्ध आदि की प्रतिमायें हैं-ऐसे पर्वत आदि स्थान कमलयुक्त तालाब, समुद्रतट प्रदेश, दूधवाले वृक्षों से युक्त स्थान, फूल-फलों से लदे-ा सभी 'सल्लेखना' लेने वाले व्यक्ति के लिए आदर्श एवं पवित्र स्थल हैं।

ध्यातव्य है कि भगवान् महावीर ने भी निर्वाण के पूर्व पावापुरी में राजा हस्तिपाल के महल के समीप कई कमलसरोवरों के मध्यवर्ती मणिशिलातलपर प्रतिमायोग धारण किया था:- **''बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले''** *(उत्तरपुराण)*

इसीप्रकार **''भग्गपडिदं वा''** - **भग्नानि पतितानि वा भाजनानि गृहाणि वा यस्मिन् स्थाने सद् भग्नपतितम्''**[५] अर्थात् खंडहर एवं टूटे-फूटे बर्तनोंवाा जो घर हों- ऐसे स्थल सल्लेखना ग्रहण करने के लिए अशुभ माने गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सल्लेखना' में दिशा-विचार-

सल्लेखना ग्रहण करने में दिशाचयन का भी वैज्ञानिक महत्त्व माना गया है। सामान्यत: सभी आचार्यों ने ईशान (पूर्वोत्तर) दिशा को 'सल्लेखना' ग्रहण करने के लिए आदर्श दिशा माना है। पंडितप्रवर आशाधर सूरि ने ईशान दिशा का 'जगत् -शान्ति करनेवाली' माना है— **" पूर्वैशानस्य दिग्भागे, शान्त्यर्थं जगतामिह।"**[६]

आचार्य उग्रादित्य ने स्पष्टत: ईशानदिशा को 'सल्लेखना' के लिए उपयुक्त घोषित किया है— **"विचार्य पूर्वेत्तरसद्दिशां तां भूमौ शिलायां सिकतासु वापि।"**[७]

अर्थात् (सल्लेखना के लिए) पूर्वोत्तर दिशा को ही श्रेष्ठ दिशा मानकर, उसी दिशा में भूमि पर, शिलातल पर अथवा साफ रेत में सल्लेखना ग्रहण करना चाहिए। 'वृहत्कल्पसूत्र' में भी 'उत्तरपूर्वदिशा' (इशान) को पूज्य/पवित्र माना गया है— **"उत्तरपूव्वा पूज्जा"**[८] जीवन भर पश्चिम या दक्षिण दिशा में सिर करके सोना तथा मरणबेला में पूर्व अथवा उत्तर में सिर करके लेटना-यह शुभ माना जाता है। पण्डित प्रवर आशाधर सूरि लिखते हैं—

"प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा स्वस्थः, संस्थरमाश्रयेत्।"[९]

अर्थात् पूर्व दिशा अथवा उत्तरदिशा में सिर करके आत्मध्यानपूर्वक 'संस्थर' (संथारा-समाधिमरण या सल्लेखना) लेना चाहिए।

दिशा के बारे में कतिपय प्रायोगिक अनुभव के बिन्दु भी विचारार्थ प्रस्तुत हैं:—

१. वर्तमान आचार्य-परम्परा के शीर्ष व्यक्तित्व आचार्य शान्तिसागर जी समाधिमरण से ३ दिन पूर्व ही ईशानदिशा में चले गये थे।

२. आचार्यप्रवर देशभूषण जी मुनिराज भी देहावसान के नौ-दस घण्टे पूर्व ईशान कोण में जाकर रहे थे।

३. प्रख्यात विद्वान् पं० कलप्पा निटवे शास्त्री की धर्मपत्नी भी शरीर त्याग से १५ दिन पूर्व ईशानदिशा में जाकर रहीं। तथा इन सभी का अत्यन्त प्रशान्त परिणामपूर्वक बिना किसी बाधा के शरीर छूटा था। अत: ईशानदिशा का सल्लेखना की दृष्टि से महत्त्व स्पष्टत: माना जा सकता है।

सन्दर्भ

१. उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, ७/२२।
२. भगवती आराधना - विजयोदया टीका, गा० २१।
३. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गाथा-६०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. मूलाराधना (भगवती आराधना), गाथा-५६०।
५. भगवती आराधना - गा० ५५८।
६. पं०आशाधरकृत 'पूजपाठ' पद्य-११, पृष्ठ ७२।
७. कल्याणकारक, पृष्ठ-७१२।
८. वृहत्कल्पसूत्र - ४५७।
९. सागारधर्मामृत - ८/३४।

●

अपना कर्त्तव्य-अपना धर्म

मोतीलाल सुराना, इन्दौर

बड़ी देर तक दुकान पर खड़ा रहा वह संन्यासी - सोचा, दुकानदार शायद उससे बात करेगा, पूछेगा या भिक्षा देगा। पर एक दुकानदार था जो ग्राहकी में ऐसा लगा था कि दूसरी ओर उसका ध्यान ही नहीं आया। तभी संन्यासी जोर से बोला हरिओम्, हरिओम्! दुकानदार का ध्यान उस ओर गया तो ग्राहक की ओर इशारा करके बोला—इसकी पत्नी बीमार है। सोंठ, लौंग आदि इसे जो सामान देना है वह देकर अभी आपकी सेवा करूँगा। इस जवाब से संन्यासी को क्रोध आ गया। पर लोगों के सामने क्रोध पी गया और एक भी शब्द जवाब में न बोला।

सौदा देने के बाद सेठ संन्यासी की ओर मुखातिब हुआ तो संन्यासी बोला कुछ परलोक का भी ध्यान है या इसी प्रकार गोरख धन्धे में रात-दिन लगे रहोगे।

यह सुनकर सेठ चुप रहा। कुछ बोलना उचित न समझा तो संन्यासी उसके मौन का गैर फायदा उठाते हुए बोला—चुप क्यों हो? परलोक के लिये भी तो कुछ करो। इस पर दुकानदार बोला—शुद्ध भावना से तथा सेवा की भावना से प्रत्येक ग्राहक को पूरा तौलकर तथा बिना मिलावट वाला माल वाजिब कीमत में देता हूँ। हाँ, लोगों को सुविधा पहुँचाता हूँ और बदले में केवल कुटुम्ब का पालन-पोषण करता हूँ। लोक में यह मेरा कर्त्तव्य है और परलोक के लिये वह सब क्या कम है? उत्तर सुनकर संन्यासी अपने खुद से बोला—चलो, आज एक गुरु और मिला।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ŚRAMAṆA

Third Monthly Research Journal of Pārśvanātha Vidyāpīṭha

Volume 7-9] [July-September, 1996

General Editor
Prof. Sagarmal Jain

Editors
Dr. Ashok Kumar Singh
Dr. Shriprakash Pandey

For Publishing Articles, News, Advertisement and Membership, Contact

General Editor
Śarmaṇa
Pārśvanātha Vidyāpīṭha
I.T.I. Road, Karaundi
P.O. : B.H.U.,
Varanasi - 221 005
Phone : 311462
Fax : 0542-311462

Annual Subscription

For Instituitions : Rs. 60.00
For Individual : Rs. 50.00
Single Issue : Rs. 15.00

Life Membership

For Institutions : 1000.00
For Individual : 500.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ŚRAMAṆA

English Section

Articles of this Volume

		Pages
1.	**Metrical Studies of Daśāśrutaskandha Niryukti in the light of its parallels** *Dr. Ashok Kumar Singh*	59-76
2.	**Sādhaka, Sādhanā & Sādhya** *Priya Jain*	77-84
३.	पुस्तक समीक्षा	८५-१०५
४.	जैन जगत्	१०६-११३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

Metrical Studies of Daśāśrutaskandha Niryukti in the light of its parallels

Dr. Ashok Kumar Singh

An observation, attributed to the eminent scholar of Jainism, L. Alsdorf, in context to the objective as well as composition of *Niryuktis*, read thus– *'Niryuktis* are metrical notes committed to memory by the monastical teacher as a reminder in his class, this practical purpose sanctioned the means of occasional neglecting grammar, vowel quantities and the full form of words'.[1] This observation, especially its latter part, sounds as a sort of allegation or tends to give impression that ancient Jaina Ācāryas were negligent or did not bother much about the verse-form or grammar in their compositions. In other words, Niryuktis are replete with erroneous metrical compositions and grammatical mistakes. How far this observation is valid? To measure the validity of this statement, I have made an attempt to check the verse-form of *Daśāśrutaskandha Niryukti gathas* in the light of its different recensions available, as well as direct parallels and counterparts, found elsewhere, in Jaina literature. Besides, I have also tried to suggest correct readings, in case of incorrect *gāthās.*

Before coming to the main topic, a few words on the composition and method of treatment of subject-matter in *Niryuktis* and on the number of *gāthās* of *Daśāśrutaskandha* Niryukti, its topics, its parallels and counterparts and on Prākṛta metres, will not be irrelevant.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Extensive stock of Jaina exegetical literature, available in Prākṛta, Sanskṛta and Gujarati languages, has primarily four types or classes - *Niryukti*, *Bhāṣya*, *Cūrṇi* and *Vṛtti*, the last one includes Tabbā etc. also later explanatory works in its fold. The distinctive features of *Niryukti* (Prākṛta verses) are *Nikṣepa*- analysis or systematic consideration and *Ekārtha* - synonym. It deals mainly with catch-words, through method of *Nikṣepa*. As L. Alsdorf[2] has rightly remarked- '*Nikṣepa* is applied first to the title of the canonical work to be explained, if this title is a compound one, to each of its constituents, subsequently to the titles of each chapter and sub-sections, lastly, perhaps to a few key words of the *Sūtra* text." One more observation of J. Charpentier about the composition of *Niryukti* is very significant and revealing. It says, "for the most important aim of the *Niryukti* is apparently to give a sort of the register of legends and tales which are used to illustrate the religious sentences and moral or disciplinary rules given in the canonical text.[3] Thus, in nutshell, it may be said that *Niryuktis* deal with catch-words through *Nikṣepa*', gives synonyms of catch- word in some cases and alludes to parables.

Only ten *Niryuktis*, on the same number of Jaina canons, were composed, of which only eight are extant now. All the *Niryuktis* are traditionally attributed to Bhadrabāhu I[4]. But modern scholars ascribe these to Bhadrabāhu of A.D. 100,[5] while some of the scholars, now a days, consider him to be the posterior to Vallabhī Synod II (c. A.D. 454/457). Prof. Sagarmal Jain[6] in his earnest attempt to decide the date and authorship of *Niryuktis*, after studiously taking stock of the relevant original sources as well as arguments put forth by recent studies in this connection, has conjectured that the author of *Niryuktis* might be Ārya Bhadra of Gautama clan. However, he did not claim his views to be final, thus, about date and original author of *Niryuktis* we do not yet have distinct intimation and the problem awaits still further investigation.

As regards the number of *gathas* of *Daśāśrutaskandha Niryukti*, my information is based on its published editions and on works

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

dealing with the history of Jaina literature etc. I was unable to have access to any of its manuscripts. It has two published editions – one with other extant *Niryuktis*, under the title '*Niryukti Saṁgraha*'[7], published from Lakhabawal, Saurashtra and second from Bhāvanagar, alongwith *Cūrṇi*, hereafter referred to as Lakhabawal edition and Bhavanagar edition, respectively.

In Lakhabawal edition the number of *gāthā* is misrepresented as 142 but infact it contains only 140 *gāthās*. As *gāthā* at S.No. 33 is the repetition of S.No. 32 and quite surprisingly S.No. 111 is missing, that is after S.No. 110 comes S.No. 112. Bhavanagar edition also upheld this number i.e. 140.

An eminent scholar of Jainism, Prof. H.R. Kapadia,[9] gives the number of *Niryukti gāthās* as 154. He has also given the section (*Adhyayana*) wise break up of the *gāthās* as 9, 11, 3, 10, 7, 4, 11, 8, 6, 7, 8, and 15. He has not indicated about the source of this information, however, agreegate of these *gāthās* is 99 only. Thus the whole account is doubtful.

Again *Niśītha Sūtra Bhāṣya*[10] cites, all of *Paryūṣaṇa Kalpa Adhyayana*, the eight chapter of this *Niryukti*, in the tenth uddeśaka (section) from S.No. 3138 to 3209. But the number of these *gāthās*, designated as *Niryukti gāthā– Imā Nijjuttī* in the *Bhāṣya*, is 72 against 67 found in *Niryukti*.[11] Five *gāthās*, called as *Niryukti gāthā* coming at S.No. 3155, 3170,3175,3192, and 3209 are missing in both editions of *Niryukti*. Their respective marked out places in Niryukti being after 68th, 82nd, 86th, 101st and 119th *gāthās*. Again 82nd *gāthā* of *Niryukti* is a combination of two *gāthās* occurred in *Bhāṣya* at S.No. 3169 and 3170.

It is notable that in Bhavanagar edition, *Cūrṇi* of the missing *gāthās* is available at their prescribed places, that is after the *Cūrṇi* of 68th etc. *gāthās*. The content of *cūrṇis*, of above-said *gāthās*, is the same in both works i.e. *Daśāśrutaskandha cūrṇi* and *Niśītha Sūtra Bhāṣya Cūrṇi*. The *Cūrṇi* of the 82nd *gatha* - a combination of two *gāthās* also contains *Cūrṇi* of both 3169 and 3170 *gāthās* as is evident from corresponding portion of *Niśītha Bhāṣya-Cūrṇi*.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The topics dealt in *Daśāśrutaskandha Niryukti*, are classified in accordance with the *Sūtra* text (*Daśāśrutaskandha*), and thus it also contains ten chapters (*Adhyayanas*) viz. *Asamādhi*, *Śabala*, *Āśātanā*, *Gaṇiguṇaśreṇī*, *Upāsaka Pratimā*, *Bhikṣu Pratimā*, *Paryuṣaṇākalpa*, *Moha* and lastly *Nidāna*. Coming to the counterparts and direct parallels, those of a considerable number of *gathas* of this *Niryukti* are available in Jaina texts : Śvetambera as well as Digambara. However, it is notable that its parallels are found in plenty or in many instances, in Śvetambera Jaina texts, while in Digambara Jaina literature it is almost an oddity.

The variations among the parallel or parallels of a *gāthā* ranges from syllable, word or words, to a quarter or a line of the verse. In some cases, the parallelism extends only as far as a single *pāda* or a quarter.

As regards the verse-forms applied in Niryukti *gāthās*, these are, certainly, *Prākrita Māṭṛka Vṛttas* or metres popularly known as *gatha* metre. It resembles Āryā metre of *Saṁskṛt*, as a commentary on *Chandonuśāsana*[12], explicitly mentions—' *Āryaiva Saṁskṛtetara Bhāṣāsu gāthāsaṁjñeti Gāthālakṣaṇāni'* that is *Āryā* metre of *Saṁskṛit* is known as *gāthā* in other languages. Both *Āryā* and *Gāthā* consist of 57 *mātrās* and are quatrain— having four quarters or *pādas*, containing 12,18,12 and 15 *mātrās*, respectively. Though *Gāthā* is predominantly of 57 *mātrās*, categorised as *sāmānya gāthā*- yet deviation in number of *mātrās* is also seen, resulting in *gāthās* of 54 metres (*Gāhū*). 6o *mātrās* (*Udgāthā*) and 62 *mātrās* (*Gāhinī*). In other words, *gāthā* consists of mātrās differing from 57, but on the contrary Āryā strictly sticks to the rule of 57 *mātrās*, without exception. The pirime feature of these *Mātrā vṛttas* or metres, the class to which *gāthā* metre belongs, is that there is no restriction either about the number of short or long letters, in a given block.

Coming to the application of *gāthā* measure in this Niryukti text, we find that general *gāthā* dominates. In some cases *Gāhū Udgāthā*, *Gāhinī* etc. also are applied. Among the types of general *gathas* applied herein, are Buddhi, Lajjā, Vidyā, Kṣamā, Dehī, Gaurī,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Dhātrī, Cūrṇā etc. Different that of 57 *mātrās* include *Udgāthā, Gāhū, Gāhinī* etc.

Metre -wise break up of the Niryukti *gatha* may be given as follows–

Buddhi-1, Lajjā 3, Vidyā-11, Kṣamā-9, Dehī-28, Gaurī-22, Dhātrī-22, Cūrṇā 15, Chāyā-8, Kānti-3, Māhāmāyā-2, and Udgāthā-6. Remaining *gāthās* are composed in *Gāhū, Gāhinī* etc.

Metrical analysis of these *gāthās* indicate that 44 *gāthās* of Niryukti are correct in measure in status quo. Similarly, shortening of the last long vowels and vice-versa is required to adjust the metre in eleven[15] and fourteen[16] of its *gāthās* respectively. It may be noted here that according to the poetic convention, short letters may be pronounced, as long and vice-versa to adjust the metre. Thus half (44+25) out of the 140 *gāthās* are, correct metrically in status quo.

Now turning to the incorrect *gāthās*, we find that 18[17] of its *gāthās* require the addition of supplement particles (*Nipātas*)- *Tu, To, Khu, Hi, Va, Vā, Ca* etc. including other Prākṛta forms also, to adjust their measure. These usages are meant for the filling out of the verse.

Again the 13[18] *gāthās* of Niryukti, requisite just only the adding and deliting of nasal, respectively as per the declensions of Prākṛta, to adjust their metres. Such as:

Caraṇesu>Caraṇesuṁ (24), Duggesu>Duggesuṁ (31), Bhikhūṇa>Bhikkhūṇaṁ (40), Teṇa> Teṇaṁ (65), Mottūṇa>Mottunaṁ (75), Iyaresu>Iyaresuṁ (76), Vāsāsu>Vāsāsuṁ (85), Mottu>Mottuṁ (86), Vatthesu>Vatthesuṁ (102), Gahaṇa>Gahaṇaṁ (106), Khaṇa>Khaṇaṁ (106), Ṇāu>Ṇāuṁ (112), Aṇubhavaṇa> Aṇubhavaṇaṁ (129), Āyāti>Āyātiṁ (141)

Likewise, 11 *gāthās*-[19] may be adjusted by lengthening of short vowels and vice-versa, respectively in tune with Prākṛta grammar or more precisely Prākṛta declensions. For example :

Aṇiṁtassā>Aṇiṁtassa (70), Kāīya>Kāiya (71), Ṇo>Ṇa (103), Ṇāṇaṭṭhī>Ṇāṇaṭṭhi (115) and (119), To>tu (127),

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Asaṁjayassā>Asaṁjayassa (132), Titthṁkara>Titthaṁkara. (134) and Pasattha> Pasatthā(82), U>To(97), Sūī>Sūi (119)

In this way, besides 69 *gāthās* metrically correct in status quo, in 42 *gāthās*, measure is adjusted by incorporting the corrections, which may be termed as minor.

There still ramain 29 *gāthās*[20], which may not be corrected, with the help of above said minor corrections and necessitate adjustments or corrections, which may be termed as major ones. For correcting these gāthās, the study of parallels and counterparts, found elsewhere is of prime importance.

Out of above referred 29 *gāthās*, verse-form in some *gāthās* is adjusted by incorporating grammatical corrections in a word or two of the respective *gāthās*, in the light of their counterparts. For example–

Vaikkama>Vaikkame (G.12) *Suyasamādhipaḍimā> Sùyasamādhipadimāo*(47) *Dasamīu> Dasamīto* (63), *Satti Uggahaṇaṁ-> Sattio Gahaṇaṁ* (80), *Saṁcaiya> Saṁcaie* (80), *Pasatthā* U> *Pasatthās* (80), *Kāraṇao> Kāraṇe* (83), *Duruttaga*! > *Duruttago* (92) *Khiṁsaṇā ya> Khiṁsnā- hiṁ* (98), *Aṇuyatto ha> Aṇuyattīhiṁ* (104) and *Maṇussaṁ> Maṇusse* (131). *Gāthās* and their parallels are given in [App. A]

A few of the *gāthās* become correct metrically, when a word or two are spelled in accordance with their counterparts. viz.

Cikkhala>Cikkhalla (59), *Apaḍikkamiuṁ> Appaḍikkamiuṁ* (80), *Miggasīre> Maggasire* (69) *Jamgaddhe kovi> Jaṁgadhheko vi* (78), *Saṁpāmavaho> Saṁpātivaho, Nehacheo > Ṅehachedu* (89) *Mangallaṁ> Tu Mangalaṁ* (114), *Akasāyaappaniāe> Akasāyāppamāe* (142). These *gāthās* may be seen in [App. B]

In some *gāthās* certain words require substitution in accordance with their counterparts such as *Gatavvaṁ > Ṭhātavvaṁ* (63), *Hoti> Bhaṇito* (69), *Gatavvaṁ> Niggamaṇaṁ* (69), to adjust the metre.

In *gāthā* No. 54 and 58, two terms respectively *Kāle* and *Māse* are missing. These two words occur in all the corresponding parallels of the gathas and are essential both from the point of view of verse-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

form and subject- matter. These two omissions, alongwith that of 'Ṇa' in gatha No. 10, and 66, in all probability, appear to be printing mistakes [App. C].

In case of two gathas- No. 101 and 108, the whole of the second line, requires replacement. These replacements not only adjust the measures but are essential also. [App. D]

During the course of comparison of Niryukti *gāthās* with their counterparts, certain significant and interesting points draw our attention. Which are as follows—

As referred to above, the *gāthā* No. 82 of *Daśāśrutaskandha* Niryukti is the combination of two *gāthās* of *Niśitha Sūtra Bhāṣya*. The first quarter of the first line of *gatha* No. 82, resembles the respective quarter of *gatha* No. 3169 of the latter, while its (82) remaining three quarters coincide the corresponding portion of next *gatha* i.e. 3170. [App. E]

Again at the place of some specific words, different words occur in various counterpart or counterparts of a gatha but the adjustment of matras is in such a way that verse—form remains intact. For example *saṁvigga> Saccitta* and *Niddao Bhavissai> Hohiṁti Ṇiddhammo*, occurred in 86 of Niryukti *gāthā* and its counterpart 3174 of *N. Bhāṣya gatha* may be cited.[App. F]

The key word or words allude parable, on good effect of victory over passions etc. The name of the characters vary in some cases, but here again, the adjustment of *mātrā* is in such a way that composition of *gatha* remains unchanged. For example Caṁpākumāranandī (93)> Caṁpā Aṅaṁgaseno, (3182) and Vaṇidhūyāccaṁkāriya (104)> Dhaṇadhūyaṁaccaṁkāriya>(3194) may be cited. [App. G]

Before summing up this paper, an analysis of a *gāthā* out of those with correct measure in status quo, in the light of its parallels, will be in order. For example *Gāthā* No. 3 of this Niryukti may be taken. I have been able to find out its parallels in Sthānāng, *Daśavaikālika Niryukti, Tandulavaicārika, Niśīthasūtra Bhāṣya* and *Sthānānga Abhaya devavṛtti*. Checking of the verse form of these *gāthās* surprisingly reveal that these have been composed in five

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

different metres— gatha and all are correct metrically. That of *Daśavaikālika Niryukti* in *Gāhinī* metre, of *Tandulavaicārika* in *Kṣamā*, of *Niśītha S. Bhāṣya* in *Gāhū*, of *Sthānāṁga* in *Gaurī*. As already discussed earlier in *Das. Niryukti* and *Cūrṇi*, its metre is *Udgāthā*.

Daśā. Niryukti No. 3

Bālā maṁdā kiḍḍā balā ya paṇṇā ya hāyaṇipavaṁcā

Pabbhāramummuhī sayaṇī nāmehi ya lakkhaṇehiṁ //

Sthānāṁga

Bālā kiḍḍā ya maṁdā ya balā ya paṇṇā ya hāyaṇī/

Pavaṁcā pabbhārā ya mummuhī sāyaṇī tahā.

Daśavaikālika Niryukti

Bālā kiḍḍā maṁdā balā ya pannā ya hāyaṇi pavaṁcā/

Pabbhāra mummuhī sāyaṇī ya dasamā u kāladasā//

Tandulavaicārika

Bālā kiḍḍā maṁdā balā ya pannā ya hāyaṇi pavaṁcā/

Pabbhārā mummuhī sāyaṇī ya dasamā ya kāladasā//

Niśīthasūtra Bhāṣya, 3545

Bālā maṁdā kiḍḍā balā paṇṇā ya hāyaṇī/

Pavaṁcā pabbhārā yā mummuhī sāyaṇī tahā//

The point, I want to arrive at is that variations, to what ever extent are, not always the pointers of errors in *gāthā* metres. These may also be in accordance, with the metrical scheme of the *Ācaryas*.

In the light of above discussion, we may say that the ascertaining of correct reading of Jaina texts is an intricate problem and multi-faced one but the metrical study of the texts and their adjustments in light of parallels is of prime importance.

It also proves that Jaina Ācāryas were not negligent in their compositions, metrically or grammitically, as is generally assumed,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

especially by Western scholars. It appears that errors have creaped into the texts later on due to a number of factors mostly owing to the copy writers of the manuscripts, or also at the time of deciphering of manuscripts as well as editing and publication of the same. Though to some extent the errors seen in *gāthās* may be due to the negligent attitude of the *Ācārya* as claimed by the scholars.

References

1. W.B. Bollee, *The Nijjuttis on the Seniors of the Śvetāmbara Siddhānta*– Franz Steiner Verlog, Stuttgart, 1995, Preface, p. VI.
2. L. Alsdorf– *Journal of the Oriental Institute of Baroda*, Vol. XXII, No. 4, June 1973, pp. 455-456.
3. Jarl Charpentier, *The Uttarādhyayana Sūtra*. Upsala 1914, Intro. p. 49.
4. *Ācārānga Sūtra*-Śīlānkas Commentary vide *Niryukti Sāhitya: Ek Punarcintana*, Sāgar Jaina Vidyā Bhāratī-I, pp. 209-210
5. The author of the Niryuktis Bhadrabāhu is identified by the Jainas with the Patriarch of that name who died 170 A.V. There can be no doubt that they are mistaken for the account of the seven schisms, of which only the former is mentioned in the Niryukti. These are the dates of the 7th and 8th Schisms, of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 699 A.V. The dates 54 a and 609 A.V. correspond to 57 and 82 A.D. on assuming the traditional date of the Nirvāṇa 527 B.C.
6. Prof. S.M. Jain, *Niryukti Sāhitya* : *EK Punarcintana*, Sāgar Jaina Vidyā Bhāratī - I, Parśvanatha Sodhapitha S.No. 70, Varanasi-5, 1994, pp. 209-233
7. Ed. Vijayāmṛtasūri, *Niryukti Saṁgraha*. Harṣapuṣpāmṛta Jaina Text S.No. 189, Lākhābāwala, Śāntipuri, Saurāstra, 1989, pp. 476-490.
8. *Daśāśrutaskandha*- Mūla Niryukti Cūrṇih– Maṇivijaya Gaṇi text S.No. 14, Bhavnagar, 1954.
9. Prof. H.R. Kapadia, *A History of the Canonical Literature of the Jainas*, The author, Gopipura, Surat 1941. p. 182

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. *Niśīthsūtram* (with Bhāṣya and Cūrṇi) ed. Ācārya Amaramuni, Bhāratīya Vidyā Publication, Delhi and Sanmati Jñānapītha, Vīrāyatana Rajagṛha (S.No. 5) Uddeśaka 10, Gāthā 3138-3209, pt. III, pp. 125-155
11. *Niryukti Saṁgraha*, Lakabāwala, (52-119) pp. 481-487.
12. Ed. Prof. H.D. Velankar, *Chando'nuśāsana of Hemacandra*) Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay, 1961, p. 128.
13.

(1) *Buddhi*- S.No. 96
(2) *Lajjā* - 8,58,120
(3) *Vidyā*- 6, 14,19,29,58,59,61,71,77,123,138.
(4) *Kṣamā*- 9,15,23,35,64,72,97,113,117.
(5) *Dehī*,- 4, 11, 16, 18, 24, 26, 27, 32, 47, 48, 55, 56, 60, 62, 63, 69, 79, 83, 84, 85, 86, 88, 92, 103, 121, 125, 131, 136.
(6) *Gaurī*- 5, 20, 34, 36, 38, 40, 41, 44, 57, 66, 75, 91, 102, 108, 115, 122, 126, 132, 135, 137, 140, 142.
(7) *Dhātrī*- 1, 12, 13, 21, 22, 37, 39, 43, 65, 67, 78, 80, 89, 101, 104, 109, 110, 116, 118, 119, 129, 141,
(8) *Cūrṇā*- 10,25,28,49,51,53,68,70,82,90,98,105,107,127,139.
(9) *Chāyā*- 7, 50, 76, 81, 87, 112, 114, 133.
(10) *Kānti*- 93, 94, 106.
(11) *Mahāmāyā*- 31, 100.
(12) *Udgāthā*- 2,3,46,52,73,136.

14. S.No. 1, 3, 4, 9, 14, 16, 18, 21, 23, 25, 26, 28, 30, 37, 39, 42, 44, 48, 52, 53, 56, 61, 62, 72, 77, 87, 88, 91, 93, 94, 95, 99, 100, 105, 107, 109, 113, 120, 121, 122, 124, 125, 135.
15. S.No. 5, 13, 15, 19, 34, 38, 11, 49, 64, 126, 140.
16. S.No. 11, 27, 29, 36, 55, 57, 84, 90, 96, 136, 137, 138.
17. S.No. 2, 6, 8, 20, 22, 73, 74, 81, 84, 85, 130, 7, 43, 46, 51, 79, 123, 139
18. S.No. 24, 31, 40, 65, 75, 76, 85, 86, 102, 106, 112, 129, 141.
19. S.No. 70, 71, 103, 115, 119, 127, 132, 134, S.No. 82, 97, 119.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

20. 10, 12, 32-33, 41, 47, 50, 54, 58, 59, 60, 63, 66, 67, 68, 69, 78, 80, 83, 89, 92, 98, 101, 104, 108, 114, 131, 133, 142.

Appendix [A]

DasāNi-12

Davve Cittalagoṇāiesu bhāvasabalo khutāyāro/
Vatikkama aikkame atiyāre bhāvasabalo u//
Cūrṇi (prose)- Atikkame vaikkame atiyāre

Daśā Ni. 63

Āsāḍhapuṇṇimāe vāsāvāsaṁtu hoti gatavaṁ Maggasira bahula/ dasamīu Jāva ekammi khettammi//

Nis. Sū. Bhāṣya 319

Āsāḍhapuṇṇimāe vāsāvāsyu hoi ṭhāyavvaṁ.
Maggasira bahuladasamī to jāva ekkammi khettammi//

Bṛhatkalpasūtra Bhāṣya 4280

Āsāḍhapuṇṇimāe, vāsāvāsasu hoti atigamaṇaṁ/
Maggasirabahuladasamī, u jāva ekkammi khettammi//

Daśā Ni. 8o.

Puvvāhārosavaṇa joga vivaḍḍhīya sattiuggahaṇaṁ/
Saṁcaiya asaṁcaie davvavivaḍḍhī passathā u //

Nis. Sū. Bhāṣya 3167

Puvvāhārosavaṇaṁ jogavivaḍḍhī ya sattio gahaṇaṁ/
Saṁcaiyamasaṁcaie, davvavivaḍḍhī pasatthāo.

Daśā Ni-83

Kāraṇao uḍugahite ujjhiūṇa geṇhaṁti aṇṇaparisāḍī/
Dāuṁ gurussa tiṇṇi u sesā geṇhaṁti ekkekkaṁ//

Nis. Sū. bhāṣya 3171

Kāraṇe uḍugahite ujjhiūṇa geṇhaṁti aṇṇaparisāḍiṁ/
Dāuṁ gurussa tiṇṇi u, sesā geṇhaṁti ekkekkaṁ//

Daśā Ni. 98.

Pāyasaharaṇaṁ chettā paccāgaya, damaga asiyae sīsaṁ/

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Bhāuya seṇāvati khiṁsaṇā ya saraṇāgato jattha//

Nis. Su. Bhā- 3187

Pāyasaharaṇaṁ chettā, pacchāgaya asiyaeṇa sisaṁ tu/

Bhāuyaseṇāhivakhiṁ saṇāhiṁ saraṇāgato jattha//

Daśā Ni. 104

Vaṇidhūyāccaṁkāriya Bhaṭṭā aṭṭhasuyamaggao jāyā/

Varaga paḍiseha sacive, aṇuyattīha payāṇṁ ca //

Nis. Sū-Bhā- 3194

Dhaṇadhūyamaccaṁkāriya- bhaṭṭā aṭṭhasu ya maggato jāyā/

Caraṇapaḍiseve sacive, aṇuyattī hiṁ padāṇaṁ ca//

Daśā Nis. 131

Jatto cuo bhavāo tatthe ya puṇovi jaha havati jammaṁ/

Sā khalu paccāyāyī maṇussa tericchae hoi//

Appendix [B]

Daśā Ni. - 59

Kāūṇa māsakappaṁ tattheva uvāgayāṇa ūṇā te/

Cikkhala vāsa roheṇa vā vi teṇa ṭṭhiyā ūṇā//

Nis. Sū Bhā. 3145

Kāūṇa māsakappaṁ, tattheva uvāgayāṇa ūṇā te/

Cikkhallavāsaroheṇa vā bitie ṭhitā nūṇaṁ//

Daśā. Ni. 60

Vāsākhettālaṁbhe addhāṇādīsu pattamahigā tu/

Sāhagavāghāeṇa va apaḍikkamiuṁ jai vayaṁti//

Ni. Sū, Bhā 3146

Vāsākhettālaṁbhe, addhāṇādīsu pattamahigā tu/

Sādhagavāghātṇa va, appaḍikaamituṁ jati vayaṁti..//

Daśā Ni. 69

Kāūṇa māsakappaṁ tattheva ṭhiyāṇatīe maggasīre/

Sālambaṇāṇa chammāsito tu jaṭṭhoggaho hoti//

Bṛ. Ka. Bhā. 4286

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Kāūṇa māsakappaṁ, tattheva ṭhiyāṇatīte maggasire/
Sālambaṇa chammāsio tu jeṭṭhoggaho hoṁti //
Besides, its three parallels in Ni-Sū Bhā(3156)//
Sthānāṁga vṛtti (5/2) and Pravacana Sārddhāra 775 are seen.

Daśā. Ni. 78

Dagaghaṭṭa tinni satta va uḍuvāsāsu ṇa haṇaṁti taṁ khettaṁ/
Cauraṭṭhāti haṇaṁtī jaṁghaddhe kovi u pareṇaṁ//
Ni-su-Bha 3165
Dagaghaṭṭatiṇṇi satta va, uḍuvāsāsu ṇa haṇaṁti te khettaṁ/
Cauraṭṭhāti haṇaṁtī jaṁghadhhekko vi tu pareṇaṁ//

Daśā. Ni. 89.

Bhāsaṇe sampāimavaho duṇṇeo nehacheo taiyāe/
Iriyacariyāsu dosuvi apehaapamajjaṇe pāṇā //89//
Ni-Sū Bhā 3178
Bhāsaṇe saṁpātivaho, duṇṇeo ṇehachedu tatiyāe/
Iritacarimāsu dosu ya, apeha apamajjaṇe pāṇā//

Dasā. Ni. 114

Purimacarimāṇa kappo maṁgallaṁ vaddhamāṇa titthaṁmi/
Iha parikahiyā jiṇa gaṇaharāitherāvali carittaṁ//
Ni. Sū. Bhā. 3203
Purimacarimāṇa kappo, tu maṁgalaṁ vaddhamāṇatitthammi/
To parikahiyā jiṇagaṇaharā ya therāvali carittaṁ//

Daśā Ni. 142

Apāsatthāe akusīlayāe akasāyaappamāe ya/
Aṇidāṇayāi sāhū saṁsāramahannavaṁ taraī//

Appendix [C]

Daśā Ni. 54

Ṭhavaṇāe ṇikkhevo chakko davvaṁ ca davvanikkhevo/
Khettaṁ tu jammi khette kālo jahi jo u//

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ni. Sū. Bhā 3140

Ṭhavaṇāe ṇikkhevo, chakko davvaṁ ca davvaṇikkheve/

Khettaṁ tu jammi khette, kāle kālo jahiṁ jo u//

Daśā Ni. 58

Ūṇāiritta aṭṭha vihariūṇa giṁhahemaṁte/

Egāhaṁ paṁcāhaṁ māsaṁ ca jahā samāhie//

Ni. Sū. Bhā. 3144

Ūṇātirittamāse, aṭṭhavihariūṇa gimha-hemaṁte/

Egāhaṁ paṁcāhaṁ, māsaṁ ca jahā samāhīe//

Daśā Ni. 10

Nāmaṁ ṭhavaṇā davie khettaddhā uḍḍha ovaraī vasahī/

Saṁjamapaggaha johe acalagaṇaṇasaṁdhaṇābhāve//

Ācārānga Ni 175

Nāmaṁ thavaṇā davie khittaddhā uḍḍha uvarai vasahī/

Saṁjama paggaha johe ayalagaṇaṇa saṁdhaṇā bhāve//

its parellels are found in Sūtrakṛtānga Niryukti (167), Ni. Sū. Bhā 6269, also,

Daśā. Ni. 66

Asivāikāraṇehiṁ ahavā vāsaṁ suṭṭhu āraddhaṁ/

Ahivaḍḍhiyammi vīsā iyaresu savīsaīmāso//

Nisi. Sū. Bhā. 3152

Asivāikāraṇehiṁ, ahava na vāsaṁ na suṭṭhu āraddhaṁ/

Ahivaḍḍhiyammi vīsā, iyaresu savīsatīmāso//

Bṛh-Sū. Bhā. 4283

Asivāi kāraṇehiṁ, ahavaṇa vāsaṁ ṇa suhu āraddhaṁ/

Abhivaḍḍhiyammi vīsā, iyaresu savīsatimāse//

Appendix [D]

Daśā Ni. 101

Selaṭṭhi thaṁbha dāruya layā ya vaṁsī ya miṁḍhagomuttaṁ/

Avalehaṇīyā kimirāga kaddama kusuṁbhaya haliddā//

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Nis. Sū. Bhā. 3191

Sela-aṭṭhi-thaṁbhadāruyalayā ya vaṁse ya meṁḍha gomuttī/

Avalehaṇi kimi kaddama kusuṁbharāge haliddā ya//

Das Ni. 108

Pāsatthi paṁḍarajjā, pariṇṇa, gurumūla-ṇāya abhiogā/

Pucchati ya paḍikkamaṇe, puvvabbhāsā cautthammi//

Nisi. Sū. Bhā. 3198

Pāsatthi paṁḍarajjā, pariṇṇa-gurumūlā-ṇātaabhiogā/

Pucchā tipaḍikkamaṇe, puvvabbhāsā cautthaṁ pi//

Appendix [E]

Daśā Ni. 82

Pasattha vigaīgahaṇaṁ garahiyavigatiggaho ya kajjammi/

Garahā lābhapamāṇe paccaya pāyappaḍīghāo//

Nisi. Sū. Bhā. 3169

Pasattha vigatigahaṇaṁ, tattha vi ya asaṁcaiya u jā uttā/

Saṁcatiya ṇa geṇhaṁtī, gilāṇamādiṇa kajjaṭṭhā//

3170

Vigatīe gahaṇammi vi, garahitavigatiggaho va kajjammi/

Garahā lābhapamāṇe, paccayapāvappaḍīghāto

Appendix [F]

Das. Niryukti 86

Mottu purāṇa-bhāviyasaḍḍhe saṁvigga sesapaḍiseho/

Mā niddao-bhavissai bhoyaṇamoe, ya uḍḍāho//

Mottuṁ purāṇa-bhavitasaḍḍhe, sacittasesapaḍi seho/

Mā hohiti ṇiddhammo, bhoyaṇamoe ya uḍḍāho//

Appendix [G]

Das. Ni. 93

Caṁpākumāranandī paṁcācchara theranayaṇa dumavalae/

Viha pāsaṇayā sāvaga iṁgiṇi uvavāya//

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ni. Sū. Bhā. 3182

Campā aṇaṁgaseṇo, paṁcacchara theranayaṇa dumavalae/
Viha pāsaṇayaṇa sāvaga, iṁgiṇi uvavāya ṇamḍivare//
also 104 and its parallels.

●

न राग - न द्वेष

मोतीलाल सुराना, इन्दौर

बात पुराने समय की है। जब गुरुजी के आश्रम में क्या राजा, क्या प्रजा, सभी के लड़के पढ़ने जाते थे। और तो और, खाना पकाने की लकड़ी भी पढ़ने वाले लड़के जंगल में जाकर काटकर लाते थे।

गुरुजी ने लड़कों को समझा रखा था कि जंगल में सूखे झाड़ की या ठूंठ की ही लकड़ी लाना। हरे झाड़ काटकर नहीं लाना। वृक्ष हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं। यदि जंगल में झाड़ नहीं रहे तो दूषित हवा से हमारा जीवित रहना मुश्किल हो जायेगा।

एक लम्बे समय के बाद गुरुजी बीमार पड़े तो अनुभव के आधार पर अपना अन्तिम समय जानकर राजकुमार को तथा सेठ के लड़के को जंगल में अपनी चिता के लिये लकड़ी लेने भेजा। दोनों लकड़ियाँ लेकर आये पर राजकुमार तो सूखी लकड़ियाँ लेकर आया, पर सेठ का लड़का पास से ही हरा झाड़ काटकर लकड़ियाँ ले आया।

गुरुजी का अन्तिम समय जानकर लड़कों के पालक भी इकट्ठे हो गये थे। गुरुजी बोले— राजकुमार की लकड़ियों से मुझे जलाना पर सेठ के लड़के के हाथ की एक भी लकड़ी मेरी चिता में मत रखना। लोगों को लगा कि गुरुजी राजा की चापलूसी कर रहे हैं। गुरूजी ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि न तो मेरा किसी पर राग है, न किसी पर द्वेष। राजा का लड़का अभी तक पचासों नये झाड़ लगा चुका है, पर सेठ का लड़का तो हरे झाड़ काटना ही जानता था लगाना नहीं। इसीलिये मैंने राजकुमार की लकड़ियाँ चिता में लगाने की बात कहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

Sādhaka, Sādhanā & Sādhya

Priya Jain

Yoga and *Sādhanā*, these two terms have been an inseparable part of Indian conscious, culture and civilization. They are the backbone of Indian spirituality and culture. In the wake of the industrialization of the entire globe and the industrial and technological development that has taken place in India and abroad, India stands apart from other countries and this is because of the great treasure of *Yoga* and *Sādhanā* that it has inherited. The Indian mass is toiling hard to live upto this great tradition amidst all adversaries and unprosperous circumstances like terrorism, communalism, etc. that it is facing today.

It is very easy to discourse upon, lecture on and speak about *Yoga* and *Sādhanā*, but only when one practices the same, he can experience and comprehend it in reality, but he too shall be unable to express it in totality as it is a subject of experience unlike science which experiences with truth. The striking difference between science of matter and science of *Yoga* and *Sādhanā* is that in the *Sādhanā* of the Science of Matter only foreign and unnatural karmic matter are accomplished, whereas in the latter, the self is the accomplisher (*Sādhaka*), the accomplished (*Sādhya*) and the accomplishment (*Sādhanā*).

In the first part of my paper I shall define three terms viz. *Sādhaka. Sādhanā & Sādhya*, and after that elaborate *Sādhanā* in the context of Jaina spirituality. finally I shall conclude with the significance of *Sādhanā* in modern times.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Today, when everyone seems to be thinking in terms of war and terror, talking about computers & space crafts, causing disharmony & poverty, spreading environmental crisis and other catastrophic adversaries, why then are we discussing and pondering over topics such as *Yoga* & *Sādhanā*. Majority of the people, communities and nations pride in singing laurels of the industrial and mechanical progress and inventions that they are carrying out. But at what cost? They are paying a heavy price of degeneration of moral values, violence, chaos and confusion and have literally pushed the globe towards a precipice. The enlightenment and the glorification of the self is replaced by material and nuclear effulgence. We the scientists, economists, politicians, scholars and social reformers have questioned and examined all aspects available in the universe but have not turned towards ourselves and examined ourselves. The pressure and tension of modern day life seems to be growing multifold and man is finding less and less time to look into his own self. He seems to be evolving from nothingness to nothingness. On the other hand there is a life, a path of life, a way, treading upon which he shall definitely evolve from nothingness to somethingness and to everythingness. This glorious path is the path of perfection, technically termed as *Sādhanā*.

Today everybody's *Sādhanā* seems to be confined to acquiring material riches and earning position, name and fame in society. This kind of *Sādhanā* is for matter and materialistic in nature, momentary and bound to perish with time. On the other hand in the history of mankind great personalities, philosophers & reformers, stand in history as great colossals, who have not given any importance to trivial worldly benefits, who were not materially inclined but turned towards their inner self, searched for their true self enlightened, and perfected their self, as there is no room for any divine grace, each individual had to and has to work out his own good and progress. The kind of *Sādhanā* they worked out was the last in the process of their evolution after which all goals were reached and all search completed. It is with this kind of *Sādhanā* that *Yoga* is associated.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

In the words of Ācārya Haribhadra– *gokheṇa joyaṇāo jogo savvo vi dhammavāvāro.*

Those noble activities are the constituents, of *Yoga* which enable man to liberate himself. Only such activities which effect sefl-realization and *Moksha* i.e. liberation are termed as *Yoga.* Thus *Yoga* serves two purposes viz. release from bondage and the realization of the self. Thus the aim of *Yoga* is to inspire the aspirant to transcend to the state of *Yoga* and the process by which this is achieved is *Sādhanā.* The ultimate aim of *Sādhanā* ie. *Sādhya* is the realization and enlightenment of the self which is the source of all energies be it physical, mental or intellectual. The self and the truth are infinite, but the senses, the mind and the intellect are limited, unreliable and imperfect. It is impossible to comprehend the unlimited self through limited resources. It is in this context that we have to understand the importance of *Sādhanā.* The senses and the mind can grasp and analyse only gross matter as their functioning is limited. They are unable to grasp the subtle truths and comprehend the existence of the self which is also very sutable. It is only through *Sādhanā* that the *Sādhaka* can comprehend the suibtle truth and realize the self, which is the *Sādhya* i.e. aim and purpose of *Sādhanā.*

When the self is realized, it is *Ātmodaya*, after which there is no looking back. All religious systems have developed a methodology of practice i.e. *Sādhanā.* by which the self in bondage may be realized and released. Only when a person realizes that he is not the body in which his self resides, is able to undertake the task of *Sādhanā.* Such a person is a *Sādhaka* and he alone shall be able to gain the *Sādhya* and become a *Siddha* i.e. the perfect one.

Due to our material inclinations we are ignorant of the spiritual treasure house which is lying buried deep within our self covered by the heaps of Karmic matter. Today the richest and the most powerful men are unhappy and are in richest search of more and more material goals than before. They have this query of what next hanging like the Demacatus sword over their heads. But when one differentiates the self from the not-self, he undertakes the *Sādhanā*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

by which his *Sādhya* is realized and further nothing remains to be achieved.

In the words of lord Mahāvīra :

jo sahassaṁ sahassāṇaṁ saṁgāme dujjae jiṇe

egaṁ jiṇejja appāṇaṁ esa se paramo jao

Uttarādhyayana - 9/34

i.e. the victory of one who wins over one's self is greater than the victory of a warrior who defeats ten lakh soldiers in the battlefield.

The *Sādhya* and the *Siddha* are inherent in the *Sādhaka* that is why the aspirant is for ever struggling to break his limitations and reach out to the fullest freedom of a *Siddha* which represents the self-illumined and self sufficient, perfect soul. There is, in all of us a burning light which says that we are yet to experience the best in life. Don't you all feel that the divine light is yet unseen by you, the divine music of the Paramātman is unheard by you and the divinity that you ought to possess is yet due to you. All of us at some point in our life span walk over a gold mine, most of us do not have the inclination to unearth the treasures for want of knowledge and courage.

In Jainism '*Sādhanā*' can be studied in more ways than one and each one echoes the truth of *Sādhanā*, which the *Sādhaka* undertakes to reach his *Sādhya*. The *Sādhanā* of the Jainas is better known as *Moksha Marga* and its constituents are Right faith, Right knowledge and Right conduct.

Samyak darśanajñanacāritrāṇi mokṣamārgah.

— *Tattvārtha Sūtrā* 1/1

This ephorism symbolises the process of *Sādhanā* which is the same in all times. This process was worked out by all omniscients *Arihaṁtas* i.e. *Tīrthaṁkaras* and shall forever be the same for all the forthcoming *Sādhakas*. Right faith, right knowledge and right conduct mould the soul to bring out from the hidden resources of our divine nature, all those qualities that are already there in a latent form

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

and thus approximating our imperfect nature more and more to that perfection which possesses all those characteristics in balanced and harmonious completeness.

The universal law of cause and effect, i.e. the principle of *karma* in the Jaina tradition is the determining factor of all kinds of forms and futures in this world. It is also said—

Karmabaddho bhavejjīvah Karmamuktastathā Jinah.

i.e. a soul entangled in the web of *karma* is the bound soul and when it frees itself from that bondage it is *Jina*, the perfected soul. The bearing open of this web of *Karmas* is *Sādhanā* and when the *karmas* are destroyed, the *Sādhya* is reached. So in a sense, each and every person is engaged in either the *Sādhanā* of binding *karmas* or destroying the *karmas*, but it is only the latter, which is followed true *Sādhaka*. There is a very acute and unique study of the *karma* theory in Jaina Philosophy and literature and the process of the *Sādhaka* becoming a *Siddha* has been enumerated in the *Daśavaikālika Sūtra*. The *Sādhaka* first acquires knowledge and differentiates the self from the not-self. He then practices self control. The person then knows the different existences where the soul experiences birth, death, disease and also knows the cause of them. He then understands that there is freedom from this bondage and begins to untie these bondages by doing *Sādhanā*. He then becomes dettached from the worldly affairs and becomes spiritually inclined. Such a *Sādhaka* lives in the world but the world is not in his mind and ends the cycle of birth and death just as a boat floats over the surface of water and reaches the other shore, but if the water enters the boat, the boat sinks. Then all the channels through which the *karmas* enter and bind the soul are obstructed and fastened. Thus ignorance and false perception is replaced by right knowledge and right faith, from the state of vowlessness the person transcends to the state of accepting vows, that of *Ahiṁsā*, *Satya*, *Asteya*, *Brahmacarya* and *Aparigraha*, the *Sādhaka* is now vigilant and his passions are subdued and the mechanism of *Aśubha* or inauspicious *Yoga* is replaced by *Śubha* or auspicious *Yoga*. The aspirant then reaches the height of *Śuddha*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yoga and destroys the knowledge obscuring and other destructive *Karmas.* There upon enlightenment, infinite knowledge, infinite vision dawns upon the *Sādhaka* and he becomes an omniscient who knows and sees everything related to all three times. In other words he becomes an *Arihanta* ie a *Jīvanmukta.* He then preaches the *Dharma* and the path of *Sādhanā* to all creatures. When his *Āyuśa* ie. age determining *karma* is exhausted, he becomes a *Siddha* and departs from the body to the abode of the *Siddhas.* Thus in Jaina tradition each person builds or makes his own life and the instruments for making one's life are *Saṁvara* and *Nirjarā, Saṁvara* is the stoppage of the inflow of *karma* and *Nirjarā* is the annihilation of the already accumulated stock of *karmas.* It is to be noted here that the 20 channels of *Āśrava* i.e. inflow of *karma* are the same channels of *Saṁvara.* This indeed is the quintessence of Jaina-*Sādhanā.* It has also been said—

āravo bandha hetusyāt saṁvaro mokṣa kāraṇaṃ /

itīyam ārahatī dṛṣṭi anyat sarva prapañcanaṁ //

i.e. *Āśrava* is the cause of all bondage, (and this inflow of *karma* is the cause of all sorrow and misery) averse to this *Saṁvara* is the sole cause of liberation, and supreme bliss. This in nutshell is the essence of Jaina faith and all the rest are but an elaboration of the above.

There is plenty of room for any and every kind of *Sādhaka,* in the path of Lord Mahāvīra. One who fails to acknowledge these two *tattvas* is not a true *Sādhaka,* and it is only for a good mind that it will be a good find. In other words, what is actually required is an unmoving and powerful attraction towards the divine dwelling in each one of us. This affinity can be developed by service to *Deva Guru & Dharma,* expiation, humility, study of Scriptures, meditation and *Kāyotsarga.*

The three stages of *Ātaman* viz *Bahirātman, Antarātman* and *Paramātman also illustrate the process of Sādhanā. There is a famous* saying of the west which goes like this— "If you desire to be God, *you first have to be good".* ie. if you desire to become a *Paramātman*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

you have to cease to be a *Bahirātman*, and establish yourself as a *Antarātma*. In other words if you desire to achieve your *Sādhya* you have to be a *Sādhaka* and do *Sādhanā*.

Bahirātman is that stage of *Ātman* which is materially inclined and happy, enjoying the sense pleasures, unaware of the consequences of the deeds which sometimes bind him with auspicious and sometimes with inauspicious *karmas*. *Antarātman* is that stage where the *Ātman* differentiate the self from the not -self, tries to give up attachment aversion, tries to conquer the passions, becomes equanimous and observes equanimity towards all creatures. In modern times, when there is a dearth of people possessing these qualities, its importance becomes all the more clear. Inspite of the heights of material progress that man has achieved, he is unhappy unsettled and in distress. So the former is one whose face is towards the world and the latter has his face towards himself. The third stage is that of the *Parmātman* where absolute consciousness, existence and bliss have manifested and is the *Sādhya* of the *Sādhaka* for which he undertakes *Sādhanā*. The *Vratas, Samitis, Guptis, anuprekṣā*, 12 fold *nirjarā* enable the soul to conquer the passsions, and destroy the *karmas* and this is a Herculean task for the beginner. In the words of J. Krishnamurthy. "At every step of it every day until the end discriminates between the real and the unreal. The body and the man are two and the man's will is not always that the body wishes. You will only what God wills, but you must dig deep down in to yourself to find the God within you. Do not mistake your bodies for yourself, neither the physical nor the astral nor the mental. You must know them all and know yourself as their master. The body is your animal -the horse upon which you ride., But it must always be you who control the body, not it that controls you. You must catch unceasingly or you will fail. You must study deeply the hidden laws of nature and when you know them, arrange your life accordingly using always reason and common sense."

One of the striking features of the present age is that man is trying to know about everything in the universe, but is taking little interest to know the self who knows everything. He can say with

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

certainty what stars, millions of miles a way are made of. He knows thoroughly the constitution of atoms and molecules, but about himself he knows practically nothing and today there are people around us who talk about *Dharma* and die for *Dharma* but rarely do we come across a *Sādhaka* who lives for *Dharma.* A Jaina *Sādhaka* begins his prayer as :

namastubhyaṁ, namastubhyaṁ, namastubhyaṁ namo namah
and ends with the prayer at the end of his *Sādhanā*
as *namo mahyaṁ, namo mahyaṁ, namo mahyaṁ namo namah.*

Thus we see that the *Sādhanā* of destryoing the heaps of *karma* is to be done by the self, for the self, by establishing the self in the self.

The river flows between the two banks, the sun rises in the east and sets in the west always and everything else seems to be moving in an orderly way. Be it in the sports' field or in the laboratory concentration, discipline and determination is required to achieve the desired goal, why then man does not acquire and exhibit the same in his life to make his existence worthwhile and the world a place to live in.

Finally I shall conclude with the significance of the study of *Yoga* and *Sādhanā* in modern times. When values and morals are on a steady fall, communalism, dogmatism, fanaticism on the rise, spiritualty and humanity at stake, it is important that we first work hard to restore the brotherhood of man, look upon others as we look upon ourselves, only then we shall succeed in achieving the *Sādhya* of our *Sādhanā*, otherwise talking of *Yoga* and *Sādhanā* would be like asking for the stars when you are starving for food, water and shelters. How is it possible to achieve. The *Sādhya* of being *Jñātā*, *Draṣtā* or *Sthitiprajña* or a Samādhistha *Sādhaka* when the essential requirment of Right understanding of the self is absent.

From the green revolution, came the industrial revolution, after this we saw the awakening of the independence revolution and now the information revolution is at large catching the eyes of the masses. But very soon we will be heading towards a spiritual revolution which is going to change the course of the world.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

पुस्तक समीक्षा

यशोधरचरितम् , संपा/अनु० डॉ० पन्नालाल जैन, प्रकाशक-श्री आचार्य शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शान्तिवीर नगर, श्री महावीर जी, राजस्थान, प्रकाशन ३ मई १९९६, मूल्य-१५ रुपये, पृ० ८०, आकार-डिमाई पेपर बैक।

यह सर्वविदित है कि हिंसा तीन प्रकार की होती है— कायिक, वाचिक और मानसिक। प्रस्तुत **'यशोधरचरितम्'** नामक महाकाव्य की कथावस्तु कायिक और मानसिक हिंसा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जिसमें उज्जयिनी नगरी का राजा यशोधर अपनी पटरानी के कदाचार से तंग आकर माता की प्रेरणा से अपने मन की शांति के लिए आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाता है। उसी समय उसकी पट्टमहिषी ने उन दोनों को विषमिश्रित खाद्य पदार्थ दे दिया, जिससे उन दानों (माँ-बेटे) की मृत्यु हो गई। इस पाप कर्म से वह तो नरक गई ही, साथ ही माँ एवं बेटे को भी कर्मबन्ध के कारण नाना भवों में जन्म-मृत्यु का कष्ट झेलना पड़ा। इन्हें किस प्रकार मुक्ति मिली इस रोचक घटना को पढ़ने के लिए तथा संसार में रहकर भी किस प्रकार व्यक्ति को कमलपत्रवत् निर्लेप रहना चाहिए इस शिक्षा को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत महाकाव्य पठनीय एवं संग्रहणीय है।

इस महाकाव्य का सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० पन्नालाल जी द्वारा सम्पन्न किया गया है। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

श्री द्रव्य संग्रह विधान- राजमल पवैया, सम्पादक-डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री नीमच, प्रकाशक-तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला-४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल-१, प्रथमावृत्ति-वीर सं० २४२२ न्यौछावर-१६, पृ०-११२, आकार-डिमाई ।

आचार्य नेमिचन्द्र देव ने एक सहस्र वर्ष पूर्व मुमुक्षु जीवों के कल्याणार्थ धारानगरी में 'द्रव्य संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो मात्र अट्ठावन (५८) गाथाओं में निबद्ध है। जैनदर्शन का ज्ञान प्राप्त करने हेतु द्रव्य संग्रह का अध्ययन करना परमावश्यक है। क्योंकि द्रव्यादि के ज्ञान के बिना आत्म-द्रव्य का ज्ञान होना असम्भव है। इसी को सरस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सहज बनाने के लिए श्री राजमल जी ने **द्रव्य संग्रह विधान** की छन्दोबद्ध रचना की। यदि कोई भी मुमुक्षु ध्यानपूर्वक नियमित इसका स्वाध्याय करे तो उसे तत्त्वज्ञान होना निश्चित है।

महाराष्ट्र की क्षुल्लिका श्री सुशीलमति जी एवं क्षुल्लिका श्री सुव्रता जी ने इसके बीजाक्षर एवं ध्यानसूत्र लिखे हैं। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं संग्रहणीय है। पुस्तक का मुद्रण कार्य एवं साज-सज्जा सन्तोषजनक है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

समयसार का दार्शनिक चिन्तन, अनुवाद - डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर', प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, दिल्ली - ६५, प्रथम संस्करण - १९९५, मूल्य - ३५, पृ० १४१, आकार - डिमाई।

प्रो०डॉ०ए०चक्रवर्ती द्वारा लिखित समयसार की अंग्रेजी प्रस्तावना का डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर' द्वारा हिन्दी रूपान्तरण 'समयसार का दार्शनिक चिन्तन' नामक पुस्तक में किया गया है। इस ग्रन्थ में पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा की कल्पना, भारतीय विचारों में आत्मा, संहिता ब्राह्मणों में औपनिषदिक विचारों के मूल तत्त्व और जैन धर्म, उसका समय और सिद्धान्त नामक विभिन्न शीर्षकों को आधार बनाकर विषय का विभिन्न दृष्टिकोणों से परिशीलन किया गया है।

ज्ञातव्य है कि जब किसी भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद किया जाता है तो अनुवाद कार्य में उसी तरह के भाव ला पाना कितना कठिन होता है। इस दृष्टि से अनुवादक का यह प्रयास सराहनीय है। पुस्तक की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें पाश्चात्य दार्शनिकों का मन्तव्य भी समाहित है, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

पुस्तक का मुद्रण कार्य एवं साज-सज्जा प्रशंसनीय है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

जैन धर्म संक्षेप में- प्रो०एल०सी०जैन, श्री नरेश जैन, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी०-३०२, विवेक विहार, दिल्ली-६५, प्रथम संस्करण १९९५, मूल्य-२५ रु०, पृष्ठ-१०२, आकार-डिमाई।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द द्वारा रचित श्री पंचास्तिकायसार की अंग्रेजी भाषा में प्रो०ए०चक्रवर्ती नयनार द्वारा पूर्व में लिखी प्रस्तावना का हिन्दी रूपान्तर प्रो०एल०सी०जैन एवं श्री नरेश जैन द्वारा 'जैन धर्म संक्षेप में' नामक पुस्तक में किया गया है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि जहाँ इसमें कुन्दकुन्दाचार्य के जीवनवृत्त तथा तात्कालिक परिस्थितियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का गवेषणात्मक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। वहीं पंचास्तिकायसार के दार्शनिक पक्ष की आधुनिक दृष्टि से विवेचना भी प्रस्तुत की गयी है।

चूँकि इसमें भारतीय एवं पाश्चात्त्य दोनों ही देशों के विद्वानों का भी मत दिया गया है इससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। उक्त विषयों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है। साज-सज्जा आकर्षक है। इसमें कतिपय मुद्रण-सम्बन्धी दोष एवं प्रमादजन्य अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर हुई है। यहाँ विस्तारभय से मात्र प्रारम्भिक पृष्ठों की ही अशुद्धियों का उल्लेख किया जा रहा है, जो इस प्रकार हैं—

पृष्ठ संख्या	*अशुद्ध*	*शुद्ध*
पृष्ठ १	महत्वपूर्ण	महत्त्वपूर्ण
	श्रृद्धा	श्रद्धा
	संथानम्	संतानम्
	औरत्न कथाकोष	आराधना कथाकोष
	ब्रम्ह	ब्रह्म
पृष्ठ २	बौद्वों	बौद्धों
पृष्ठ ३	अपरिचिंतों	अपरिचितों
पृष्ठ ४	इड०	इंडि०
	तिरूपप्पुलियरि	तिरुपप्पुलियरि
	तिरूवदि	तिरुवदि
	फिर भी द्वारा प्रस्तुत	फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत
पृष्ठ ५	पट्टवलियां	पट्टावलियाँ
पृष्ठ ६	सुभद्रा चार्य	सुभद्राचार्य
	अर्हदब्लि	अर्हद्बलि
पृष्ठ ७	पदारुढ़	पदारूढ़
	सम्वत्	संवत्
	ईस्सी	ईस्वी
	ब्राह्मण	ब्राह्मण
पृष्ठ ८	श्रृद्धा	श्रद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	वापिसी	वापसी
पृष्ठ ९	देशमिलये	देशमलये
	मुनीर्महात्मा	मुनिर्महात्मा
पृष्ठ १०	कल्लुकुरूचि	कल्लुकुरुचि
	तुरूवत्रमलि	तिरुवत्रमलि
	चिरुमइलई	तिरुमॅलइ

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

वैशाली शोध संस्थान बुलेटिन सं०९, प्रधान सम्पादक - डॉ० युगल किशोर मिश्र, व्याख्याता - डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, प्रकाशक - प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, बसुकुण्ड, वैशाली, बिहार, प्रथम संस्करण - १९९४, पृ०-९०, आकार-डिमाई पेपर बैक, मूल्य —— ।

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान के संस्थापकों में अग्रणी पं० जगदीशचन्द्र माथुर की पुण्य स्मृति में सन् १९८७ से निरन्तर 'जगदीशचन्द्र माथुर व्याख्यानमाला' का आयोजन किया जाता है। इसी के अन्तर्गत सन् १९९३ ई० के नवम्बर माह में षष्ठ व्याख्यानमाला का पहली बार द्विदिवसीय आयोजन किया गया, जिसमें प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी के दिग्गज विद्वान् डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव की व्याख्यानमाला तीन सत्रों में सम्पन्न हुई। जिसका विषय था-भगवान् महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्तों की वर्तमान सन्दर्भ में समाज-वैज्ञानिक व्याख्या। यह पुस्तक उसी व्याख्यानमाला का एक संग्रह है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। इसकी साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण कार्य निर्दोष है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

पुस्तक : अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर : डॉ०सूरजमुखी जैन : कुसुम प्रकाशन, नवेन्दु सदन, आदर्श कॉलोनी, मुजफ्फरनगर, उ०प्र० : प्रथम संस्करण १९९६ : मूल्य रु० २००=०० केवल।

अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर, डॉ० सूरजमुखी जैन की उनकी डाक्टरेट डिग्री के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध का पुस्तकाकार रूप है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सामान्य रहस्यवाद, जैन रहस्यवाद तथा अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यों की समीक्षा करने के उपरान्त, अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी काव्यों की अनुभूति और अभिव्यञ्जना प्रणाली का कबीर पर प्रभाव निरूपित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमती डॉ० जैन का यह निष्कर्ष कि कबीर ने अपने समय के और अपने पूर्ववर्ती कवियों/दार्शनिकों के अनेकानेक शब्दों और प्रतीकों को अपने काव्य में स्थान दिया है, बिलकुल उचित प्रतीत होता है। कबीर एक घुमक्कड़ कवि थे और अपनी यायावरी में वे अनेक सन्तों, नाथों और अन्य सम्प्रदायों के गुरुओं के सम्पर्क में आए थे और स्पष्ट ही इन सबका एक समग्र प्रभाव उनके काव्य पर निश्चित ही पड़ा होगा। डॉ० जैन की प्रतिभा इस बात में है कि उन्होंने कबीर पर प्रभाव के विभिन्न सूत्रों में से जैन प्रभाव को अलग करके उसे प्रतिष्ठित किया है। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि कबीर ने किसी एक विशेष सम्प्रदाय के निश्चित प्रभाव में अपना काव्य सृजन किया है, एक अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है।

वस्तुत: कबीर पर यदि किसी बात का प्रभाव था तो यह उनका सामाजिक-दार्शनिक परिवेश ही था। कबीर का काव्य उसी परिवेश पर एक टिप्पणी है। कबीर पढ़े-लिखे सन्त नहीं थे और इसलिए यह उम्मीद करना कि उन्होंने किसी विशेष सम्प्रदाय की दार्शनिक और पारिभाषिक शब्दावली का जानबूझ कर प्रयोग किया होगा, ठीक नहीं लगता। कबीर ने तो केवल उसी शब्दावली का प्रयोग किया है जो जन सुलभ थी। यह शब्दावली जैन रहस्यवादी कवियों ने भी अपनाई है और कबीर ने भी।

सच तो यह है कि जैन पारिभाषिक शब्दावली कबीर के काव्य में स्पष्टत: अनुपस्थित है। उदाहरण के लिए, **अनेकान्त, स्याद्, गुणस्थान,** आदि पद जो ठेठ जैन पारिभाषिक शब्द हैं, कबीर के काव्य में हमें कहीं नहीं दिखाई देते, और जिन दार्शनिक शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया है, और जिनका सन्दर्भ डॉ० जैन ने अपने ग्रन्थ में दिया है, वे निश्चित ही जैन पारिभाषिक शब्द नहीं कहे जा सकते। **सोऽहम्, निरंजन, सहज, निर्वाण, शून्य, अमृत,** आदि सारे पद समस्त भारतीय दार्शनिक परम्परा में विद्यमान हैं और इनको आधार बनाकर यह कहना कि कबीर में इन शब्दों, भावों आदि का प्रयोग जैन प्रभाव को दर्शाता है, बहुत उचित नहीं होगा। डॉ. जैन इस कठिनाई को न समझती हों, ऐसी बात भी नहीं है। फिर भी, कुल मिलाकर उनका आग्रह यही है कि विचार/भाव और पारिभाषिक शब्दों के साम्य से कबीर पर जैन रहस्यवाद का प्रभाव स्वीकार किया जाना चाहिए।

किन्तु जहाँ तक अभिव्यंजना और रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, डॉ० जैन यह दिखाने में पूरी तरह सफल रही हैं कि कबीर के काव्य में कई जगह यह अभिव्यंजना और अभिव्यक्ति अद्भुत रूप से अपभ्रंश के जैन रहस्यवादी कवियों के समान है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किए है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

बहुयइं पढ़ियइ मूढ़ पर तालु सुक्कई जेण।
एक्कु जि अवखरु तं पदहु सिवपुरी गम्भइ जेण।।

—मुनि रामसिंह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।

—कबीर

मुंडिये मुंडिय मुंडिया सिर मुंडिउ चित्तुण मुंडिया।
चित्तहं मुडणु जिंकमउ संसारहं खंडणुतिं कियउ।।

—मुनिराम सिंह

केंसों कहा विग्गरिया जौ मुड़ै सौ बार।
मन को काहे न मुंडिये जामें विषै विकार।।

—कबीर

वय तप संयम मूलगुण मूढहं मोक्खुण वुत्तु।
जाव ण जाणइ एक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु।।

—जोइन्दु मुनि

किया जप किया तपु संजमो, किया वरतु किया असनानु।
जब लगि जुगति न जानीए भाव भगति भगवानु।।

—कबीर

तित्थहिं तित्थु भमंताहं मूढ़हं मोक्खुण होई।

—जोइन्दु मुनि

तीरथ करि करि जग मुवा डूँधे पाणी न्हाइ।

—कबीर

मणु मिलियउ परमेसरहो पर मेसरु वि मणस्य।
विण्णि वि समरस हुइ रहिय पुज्जु चढ़ावउं कस्स।।

—मुनि राम सिंह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा मन सुमिरै राम को मेरा मन रामहिं आहि।
अब मर रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।।

—कबीर

जलवुव्वुउ जीविउ चवलु धरगु जोव्वणु तडि तुल्ल ।

—कवि लक्ष्मीचन्द

पानी केरा बुदबुदा इसी हयारी जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ।।

—कबीर

डॉ० जैन का यह ग्रन्थ इसलिए तो महत्त्वपूर्ण है ही क्योंकि इसमें कबीर पर जैन प्रभाव की बात कही गई है, यह इसलिए भी मूल्यवान् है कि इसमें शायद पहली बार अपभ्रंश के समस्त जैन रहस्यवादी कवियों/कृतियों की समीक्षात्मक विवेचना हुई है। एक अच्छे शोध-प्रबन्ध की भाँति जो भी कहा गया है, उसकी पुष्टि के लिए उपयुक्त सन्दर्भ हैं। डॉ० जैन अपने इस उपयोगी और मूल्यवान् ग्रन्थ के लिए बधाई के पात्र हैं।

सुरेन्द्र वर्मा

'श्री षट्खंडागम सत्प्ररूपणा विधान', लेखक-राजमल पवैया, प्रकाशक-भरत पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४ इब्राहीमपुरा, भोपाल-४६२००१, पृष्ठ-४००, न्यौछावर-बत्तीस रुपए।

'षट्खंडागम' जैन धर्म-दर्शन का एक प्रसिद्ध एवं बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसकी रचना आचार्य धरसेन के प्रमुख शिष्य आचार्य पुष्पदन्त तथा आचार्य भूतबलि के द्वारा हुई। इसके छः खंड हैं- (१) जीव स्थान, (२) क्षुद्रकबन्ध, (३) बन्ध स्वामित्व विचय, (४) वेदना, (५) वर्गणा एवं (६) महाबन्ध। इस महान् ग्रन्थ के महत्त्व को देखते हुए इसे सामान्य लोगों के बीच तक पहुँचाने के उद्देश्य से पं० राजाराम पवैया जी ने 'श्रीषट्खंडागम सत्प्ररूपणा विधान' की रचना की है। स्वयं ज्ञान अर्जित करना एक श्रेष्ठकार्य माना जाता है किन्तु अर्जित ज्ञान को दूसरों के समक्ष पहुँचाना श्रेष्ठतर होता है। **'प्रत्येक शुद्ध आत्मा शुद्ध निर्वाणजयी'** इस तथ्य को लोग समझें, ऐसा ही प्रयास श्री पवैयाजी का है जो निश्चित ही सराहनीय है। इसके लिए ये बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की भाषा सरल और छपाई साफ है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'इन भावों का फल क्या होगा', लेखक-पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, प्रकाशक-पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५, पृष्ठ-२२४, मूल्य - १३ रुपये मात्र।

'इन भावों का फल क्या होगा' नामक पुस्तक के रचयिता पण्डित रतनचन्द भारिल्ल हैं। इस पुस्तक में कुछ ३७ प्रकरण हैं, जिनमें आर्त-रौद्र भावों और उनके परिणामों को दर्शाते हुए सामाजिक जीवन को ह्रास मार्ग से हटाकर विकास मार्ग पर लाने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है। यह पुस्तक उन लोगों के लिए एक चेतावनी है जो मानव जीवन के सही अर्थ को भूलकर अनैतिकता, अधार्मिकता एवं असामाजिकता के शिकार हो रहे हैं। इस रचना के लिए पंडित भारिल्लजी को बधाई है। पुस्तक की छपाई स्पष्ट है तथा बाहरी रूपरेखा सुन्दर है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

पुस्तक-शुद्धोपयोग, लेखक-आचार्य विराग सागर, सम्पादक-पं० डॉ० दरबारीलाल कोठिया, मूल्य-२५, प्रकाशक-सम्यग्ज्ञान दिग० जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड, शाखा-देवेन्द्रनगर (म०प्र०)।

जैन विचारणा में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग को लेकर पर्याप्त विवाद प्रचलित है। निश्चय नय प्रधान कांजी स्वामी की विचार दृष्टि का अनुसरण करने वाले चिन्तक यह मानते हैं कि शुभोपयोग ही हेय है। मात्र शुद्धोपयोग ही उपादेय है। इस दृष्टि का परिणाम यह हो रहा है कि व्यवहार-आचार की अवहेलना के साथ-साथ सकारात्मक अहिंसा की जीवन दृष्टि की भी उपेक्षा हुई। इस सन्दर्भ में व्याप्त भ्रान्तियों के निराकरण के लिए ही आचार्य श्री विराग सागर जी ने इस कृति का प्रणयन किया।

प्रस्तुत कृति में उन्होंने दोनों पक्षों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया और यह माना कि शुभोपयोग और पुण्य भी साधना के एक स्तर तक उपादेय है। जैनागम स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करते हैं कि सभी प्रकार के पुण्य कार्य हेय नहीं है। सम्यक् दृष्टि के पुण्य-कार्य तो उपादेय भी हैं और करणीय भी। आचार्य श्री का कथन जैन दृष्टि का यथार्थ परिचायक है कि 'पुण्य फल की इच्छा से पुण्य कार्य नहीं करना चाहिए, अपितु अशुभ से निवृत्ति के लिए और मात्र वात्सल्य बुद्धि से पुण्य कार्य करना चाहिए। दूसरे पुण्य फल रूप में उपलब्ध शारीरिक और भौतिक सामर्थ्य को विषय भोग में नहीं गंवाना चाहिए।

आचार्य श्री की यह कृति शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग की समस्या के सन्दर्भ में निश्चय ही उनके नीर-क्षीर विवेक का परिचायक है और उस एकान्त दृष्टि का खण्डन करती है जो शुद्धोपयोग की उपलब्धि में शुभोपयोग को सहायक न मानकर उसे एकान्त रूप से हेय मान लेता है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार नदी से पार जाने के लिए नौका का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहयोग आवश्यक है, यद्यपि पार होने पर नौका का त्याग भी आवश्यक होता है; किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् नौका-त्याग नौका को हेय नहीं बना देता है। जिस प्रकार नौका का त्याग एवं ग्रहण दोनों आवश्यक है उसी प्रकार संसारी साधक-आत्मा के लिए शुभोपयोग का ग्रहण व त्याग दोनों आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति नदी पार होने के पूर्व ही मध्यधारा में नौका का त्याग कर देता है तो वह डूब जाता है। उसी प्रकार जो साधक शुद्धोपयोग रूपी अप्रमत्त संयत नामक सप्तम गुण स्थान को प्राप्त करने के पूर्व शुभोपयोग रूपी नौका का परित्याग कर देता है, वह वस्तुत: संसार-समुद्र में डूबता ही है। अत: मुनि श्री का यह कथन समुचित ही है। जब तक सप्तम गुण स्थान आध्यात्मिक अवस्था नहीं प्राप्त होती और जब तक साधक चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ स्थान गुणवर्ती हैं तब तक उसे शुभोपयोग रूपी पुण्य कार्य की अपेक्षा है।

कृति निश्चय ही पठनीय और संग्रहणीय है। मुद्रण निर्दोष और साज-सज्जा आकर्षक है। जटिल विषय को भी सरल व सहज रूप में प्रस्तुत करने के लिए आचार्य श्री का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

प्रो० सागरमल जैन

जिनतत्त्व, भाग-६, लेखक-रमणलाल सी०साह, प्रकाशक-श्री मुम्बई युवक संघ ३८५ सरदार वल्लभभाई पटेल मार्ग, मुम्बई-४००००४, पृ०-११०, मूल्य-२० रुपए।

जिनतत्त्व, भाग-६ के लेखक, डॉ रमणलाल सी०साह हैं। इसमें तीन अध्याय है— अदत्तादान विरमण, अवधिज्ञान तथा सिद्ध परमात्मा। यह पुस्तक आकार की दृष्टि से छोटी है किन्तु विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें सिद्ध परमात्मा की विवेचना करते हुए उसके १४ प्रकार बताए हैं— नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध, द्रव्यसिद्ध, कर्मसिद्ध, शिल्पसिद्ध, विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध, योगसिद्ध, आगमसिद्ध, अर्थसिद्ध, बुद्धिसिद्ध, यात्रासिद्ध, तपसिद्ध, कर्मक्षयसिद्ध। इसी तरह, अवधिज्ञान और अदत्तादान विरमण के भी संक्षिप्त एवं सरल विश्लेषण हुए हैं। पुस्तक की छपाई तथा बाहरी रूपरेखा सुन्दर है। इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

लक्ष्मण रेखा, लेखक-पंन्यास रत्नसुन्दर विजय, प्रकाशक-रत्नत्रयी ट्रस्ट, प्रवीण कुमार दोशी, २५८, गाँधी गली, स्वदेशी मार्केट, मुम्बई-४००००२, पृ०-१४२, मूल्य-५० रुपए।

लक्षमण रेखा के लेखक पंन्यास रत्नसुन्दर विजय हैं। इस पुस्तक में पावन और महाराज साहब दो व्यक्तित्व हैं। पावन का काम है, विविध समस्याओं को महाराज साहब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समक्ष उपस्थित करना और महाराज साहब सभी समस्याओं के समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं। कठिन विषयों को सरल ढंग से विवेचित करने का यह एक सुन्दर मार्ग है। जो सामान्य पाठकों के लिए अति हितकारी है। किन्तु पुस्तक को आकर्षक बनाने के उद्देश्य के कारण इसकी कीमत बढ़ गई है, जो सामान्य लोगों के लिए सम्भवत: खरीदने में कठिनाई उत्पन्न कर सकती है। फिर भी लेखक और प्रकाशक इस कार्य के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

तहोमतनामुं, लेखक-पंन्यास रत्नसुन्दर विजय, प्रकाशक-रत्नत्रयी ट्रस्ट, प्रवीण कुमार दोशी, २५८, गाँधी गली, स्वदेशी मार्केट, मुम्बई-४००००२, पृ०१४०, कीमत-४५ रुपए।

तहोमतनामुं के लेखक पंन्यास रत्नसुन्दर विजय जी है। इसमें भी विषय को विश्लेषित करने की पद्धति वार्तालाप वाली ही है। महाराज साहब से विविध प्रश्न किए जाते हैं और वे चिन्तन शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत समस्याओं के समाधान बता देते हैं। यह पद्धति रुचिकर है और सामान्य पाठकों के लिए विशेष हितकारी है। यह पद्धति पुरानी है, जब गुरु शिष्य आपस में बात करके ही समस्याओं के समाधान ढूँढ़ते थे और विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों का स्पष्टीकरण करते थे। पुस्तक की छपाई और बाहरी रूपरेखा आकर्षक हैं। इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

श्री समयसार विधान, लेखक-राजमल पवैया, प्रकाशक-भरत कुमार पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४ इब्राहिमपुरा, भोपाल, ४६२००१, पृ० ४७०, न्योछावर-२५ रुपए।

आचार्य कुन्दकुन्द की प्रसिद्ध रचनाओं में से एक को 'समयसार' के नाम से जाना जाता है। उसी के आधार पर श्री राजमल पवैया ने 'श्री समयसार विधान' की रचना की है। ग्रन्थ के शुरू में ही पवैयाजी ने 'कब? क्यों? कहाँ? कैसे?' में जो कुछ लिखा है उससे उनकी आस्था और आत्मविश्वास की जानकारी होती है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाएँ-श्री पञ्चास्तिकाय संग्रह, श्री प्रवचनसार, श्री समयसार, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड आदि के मूल विवेचित विषयों को संक्षिप्त एवं पद्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु समयसार को 'समयसार भगवान्' कहा गया है। इसे आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में ही सर्वश्रेष्ठ नहीं बल्कि 'आगमों का आगम' भी कहा गया है। मङ्गलाष्टक, मङ्गल पञ्चक, अभिषेक पाठ, पूजा पीठिका, मङ्गल विधान, स्वस्ति मङ्गल, श्री नित्यग्रह पूजन, जयमाला, श्री सीमन्धर पूजन, श्री कल्याणक अर्घ्यावलि आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजन-विधियाँ पद्याकार में प्रस्तुत की गई हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थ के रचयिता का उद्देश्य सिद्धान्त को व्यवहार रूप देने का है। आचार्यों ने जो विभिन्न आध्यात्मिक तथ्यों को अपनी रचनाओं में प्रकाशित किए हैं उनके सही उपयोग तो तभी हो सकते हैं जब उन्हें अच्छी तरह समझकर उनके अनुकूल जीवन व्यतीत किया जाए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पवैया जी ने श्री समयसार विधान की रचना की है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द की अन्य रचनाओं में जो बातें दुरूह लगती हैं उन्हें समयसार में सरलता के साथ प्रस्तुत किया गया। लेकिन श्री पवैया जी ने उन्हें हिन्दी पद्य रूप देकर और सरल एवं रुचिकर बना दिया है। ऐसा करके उन्होंने दिगम्बर मान्यता में विश्वास रखने वालों का तो उपकार किया ही है, अन्य लोगों के लिए भी समयसार जैसी अनुपम कृति को समझने का सुगम मार्ग प्रस्तुत किया है जैसे—

नगरी का वर्णन हो तो नृप ना वर्णन होता।
त्यों देह संस्तवन हो तो केवलि संस्तवन न होता।।
मत करो व्यक्ति की पूजा इससे लाभ न होगा।
तुम करो गुणों की पूजा तो सच्चा वन्दन होगा।।

इस उपयोगी रचना के लिए लेखक तथा प्रकाशक आदि बधाई के पात्र हैं। आशा है धर्मानुरागीजन इसका स्वागत करेंगे।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

राजप्रश्नीय सूत्र का सारांश, लेखक-आगम मनीषी तिलोक मुनि, प्रकाशक-आगम नवनीत प्रकाशन-समिति, सिरोही, पृष्ठ-८०, मूल्य-१०रु०।

राजप्रश्नीय का सारांश तथा नंदीसूत्र की कथाएं के रचयिता आगम मनीषी तिलोक मुनि जी हैं। राजप्रश्नीय सूत्र के दो भाग हैं— प्रथम भाग में सूर्याभ देव और उनकी सम्पूर्ण दैवी ऋद्धि सम्पदा आदि के वर्णन हैं। द्वितीय भाग में राजा प्रदेशी के सांसारिक तथा अधार्मिक जीवन के वर्णन हैं। उसमें बताया गया है कि किस प्रकार कोई श्रमणोपासक आत्मकल्याण कर सकता है। नन्दीसूत्र में कथाओं के माध्यम से मानव जीवन को मर्यादित करने का मार्ग दिखाया गया है। इसमें औत्पातिक बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कार्मिक बुद्धि तथा परिणामिकी बुद्धि के विवेचन मिलते हैं। मुनिश्री ने उपदेशपूर्ण कथाओं को संक्षिप्त रूप में तथा सरल हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करके सामान्य लोगों के लिए सराहनीय कार्य किया है। आशा है पाठक इसका स्वागत करेंगे। पुस्तक की रूप रेखा अत्यन्त सुन्दर और छपाई स्पष्ट है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिन सुधारस मुक्ति नाहि, लेखक-मुक्तिरत्न सागर, प्रकाशक-श्री अक्षय प्रकाशन, पता-श्री रमणीक लाल सलोत, २०४ श्रीपाल नगर, १२ हार्कनेस रोड, वालकेश्वर, मुम्बई-४००००५, पृ० ११२, मूल्य-२५ रुपए।

'बिन सुधारस मुक्ति नाहि' के रचयिता मुक्तिरत्न सागर जी हैं। पुस्तक के नाम से ही यह ज्ञात होता है कि इसमें उस सुधारस का विश्लेषण हुआ है, जिससे मुक्ति मिलती है। उस सुधारस को प्राप्त करने के लिए श्रवण, मनन तथा आचरण आवश्यक हैं जो क्रमशः तृप्तिदायक, पुष्टिदायक और मुक्तिदायक हैं। सत्य सबसे बड़ा तथ्य है जिसे साधु प्राप्त करते हैं, जिनके विषय में कहा गया है—

यथा चित्ते तथा वाचे, यथा वाचे तथा क्रिया।

चित्ते वाचे क्रियायां च साधूनामेकरूपता।।

इसी तरह सम्पूर्ण पुस्तक में विविध धार्मिक एवं नैतिक उपदेश विवेचित हैं जो मुक्ति मार्ग-दर्शक हैं। यह पुस्तक धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पुस्तक की छपाई आदि सुन्दर है। पाठक इसका स्वागत करेंगे। लेखक तथा प्रकाशक को बधाई है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

जैन साहित्य समारोह, भाग-४, प्रकाशक-श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई। प्रस्तुत पुस्तक उन लेखों का सङ्कलन है जो तेरहवें जैन साहित्य समारोह में पढ़े गए थे। इसमें सिद्ध परमात्मा, तमिल जैन कृति, हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य की भावना, पुण्यदन्ती राजगृह आदि निबन्ध, आध्यात्मिक, नैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक सभी पक्षों को प्रकाशित करने वाले हैं। संगोष्ठियों से साहित्य का विकास तो होता ही है, उनमें पढ़े गए निबन्धों के प्रकाशन से अन्य लोग भी जो संगोष्ठी में भाग नहीं ले पाते हैं, लाभान्वित होते हैं। इसके लिए संयोजक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

मनुष्य का कायाकल्प, लेखक-श्रीचन्द्रप्रभ सागर, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउन्डेशन, ९सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता-६०००६९, पृ०-१८७, मूल्य-२५ रुपए मात्र।

'मनुष्य का कायाकल्प' पुस्तक के रचयिता श्री चन्द्रप्रभजी एक युवा मुनि, विद्वान् एवं विचारक हैं। अपने चिन्तन-मनन के फलस्वरूप वे हमेशा धार्मिक, दार्शनिक तथ्यों को उजागर करने में लगे रहते हैं। उनकी प्रस्तुत रचना उनके उन व्याख्यानों या उपदेशों का संकलन है जो उन्होंने ध्यान शिविर के समय दिए थे। प्रस्तुत रचना में गुरु के द्वारा शिष्यों को नमन करने की चर्चा है जिससे समत्व भाव पर प्रकाश पड़ता है। शिष्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु सबमें एक ही परमतत्त्व विराजमान होता है, इसलिए सब बराबर हैं कोई बड़ा या, छोटा नहीं है। इसमें वृत्ति, बुद्धि और विवेक को स्पष्ट करते हुए कहा गया है— **'वृत्ति वास्तव में मन की प्रखर प्रवृत्ति है। बुद्धि मन का समीकरण है। बुद्धि भी मन का ही एक अंश है। सम्बोधि सम्यक् बोध, विवेक है।** पुनः बाइबिल के विचार से मिलता-जुलता विचार प्रस्तुत किया गया है। जिसमें कहा गया है— **'जिन-जिन के प्रति भी द्वेष-भाव है, दुश्मनी का भाव है, उन-उनके प्रति प्रेम का भाव, मैत्री का भाव लाने का प्रयास करना।** इस तरह इस पुस्तक में अध्यात्म का अन्तर-मन्थन, चेतना का रूपान्तर आदि विषय विवेचित हैं। यह पुस्तक योग साधना में रुचि रखने वाले लोगों के लिए खासतौर से उपयोगी है। ऐसे तो सामान्य पाठक भी इससे लाभान्वित हो सकते हैं। पुस्तक की बाहरी रूपरेखा काफी आकर्षक है, छपाई साफ है, सुन्दर है। इसके लिए लेखक एवं व्यवस्थापक सभी बधाई के पात्र हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

सो परम महारस चाखै, लेखक-श्री चन्द्रप्रभ, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउन्डेशन, ९सी एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता-६९, पृ०-१२८, मूल्य-२० रु०।

'सो परम महारस चाखै' के रचयिता श्री चन्द्रप्रभ जी हैं। पुस्तक का नामकरण आनन्दघन या घनानन्द की रचना **'अवधू नाम हमारा राखै, सो परम महारस चाखै'।** पर आधारित है। इस पुस्तक में कबीर, घनानन्द, मीरा आदि सन्तों की रचनाओं को प्रस्तुत करते हुए आध्यात्मिकता एवं भौतिकता को विवेचित करने का प्रयास हुआ है। किन्तु ग्रन्थकार पर घनानन्द का अधिक प्रभाव जाहिर होता है, क्योंकि प्रत्येक भाग या अध्याय के प्रारम्भ में उनके पद अंकित है, जो उस अध्याय की पूर्वपीठिका की ओर संकेत करते हैं। कहा गया है— **आम आँखें दूसरों को देखती हैं, वे अपने-आप को नहीं देखतीं लेकिन चेतना में जीने वाले की तो हजारों आंखें होती हैं और वह हर आँख से अपने आप को देखता है।** महात्मा बुद्ध ने कहा था **'आत्म दीपो भव'**। संसार को खोलने की चाबियों से मुक्ति का ताला नहीं खुलता। अतः ज्ञानी उस चाबी को प्राप्त करते हैं जिससे मुक्ति का द्वार खुलता है। सद्गुरु व्यक्ति की मूर्च्छा को तोड़ने और मुक्तिमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने का काम करता है। इसीलिए सद्गुरु पारस होता है। **'साधुता की सुगन्ध वेश से नहीं वरन् उसके अन्तर-हृदय से आती है। जिसका मन भटक रहा है वह सन्त होकर भी गृहस्थ है।'** इन उक्तियों से लेखक की वैचारिक गरिमा प्रकाशित होती है। पुस्तक की बाह्याकृति सुन्दर है, छपाई साफ है। आशा है पाठक इसका स्वागत करेंगे। लेखक और व्यवस्थापक इस उपयोगी कृति के लिए साधुवादार्ह हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बोधि ध्यान मार्गदर्शिका, लेखक-श्री चन्द्रप्रभ, प्रकाशक-श्रीचन्द्रप्रभ ध्यान निलयम्, दादाबाड़ी, राम बाग, इन्दौर (म०प्र०), पृ०-५६, मूल्य-५ रु०।

प्रस्तुत पुस्तिका 'सम्बोधि ध्यान मार्ग दर्शिका' के रचयिता श्री चन्द्रप्रभ जी हैं। पुस्तक के नाम से ही ज्ञात होता है कि इसमें सम्बोधि ध्यान की प्रक्रिया को विवेचित किया गया है। इसमें यह बताया गया है कि ध्यान से पहले योगाभ्यास करना आवश्यक है जिसे पाँच चरणों में पूरा करना चाहिए— (१) सन्धि संचालन-३मिनट, (२) स्थिर दौड़-२ मिनट, (३) योगासन-३ मिनट, (४) योगचक्र-४ मिनट तथा (५) श्वसन-३ मिनट। इससे सम्बन्धित चित्र भी दिए गए हैं। साथ ही प्राणायाम, चैतन्य ध्यान, भाव-उत्सव, सम्बोधिभाव, अन्तर सजगता आदि के भी विवेचन हुए हैं। पुस्तिका के अन्त में 'ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण', चित्र के द्वारा बताया गया है। इस विवेचनों एवं चित्रों से किसी भी नए साधक को 'ध्यान' आदि की जानकारी आसानी से हो सकती है। अत: यह पुस्तिका योगाभ्यास में रुचि रखने वालों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। पुस्तक की रूपरेखा एवं छपाई सुन्दर है। इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक को बधाई है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

मुक्ति का मनोविज्ञान, लेखक-श्री चन्द्रप्रभ, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउण्डेशन, ९सी एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता-६९, पृ०-११२, मूल्य-१२ रुपए।

'मुक्ति का मनोविज्ञान' के रचनाकार श्री चन्द्रप्रभ जी हैं। इसमें उनके प्रवचन संकलित हैं। इस लघु पुस्तक में मुक्ति मनोविज्ञान, महावीर का महामार्ग, अन्तर्दृष्टि के आठ आयाम, अन्तर आत्मा की पीड़ा, समर्पण की झील : जागरण के कमल, भय प्रलोभन : अध्यात्म के अवरोधक शीर्षकों के अन्तर्गत विविध आध्यात्मिक तथ्यों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। महावीर का महामार्ग मोक्षमार्ग है जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप है। नए उदाहरणों के माध्यम से मोक्षमार्ग को बताते हुए कहा गया है— दर्शन भट्टी है, ज्ञान रोटी है और चारित्र उस रोटी को पचाना है। दर्शन की भट्टी में ज्ञान की रोटी सिकती है और चारित्र के द्वारा उस रोटी का पाचन होता है। मनुष्य की चेतना के विवेचन में उसकी तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं— (१) बाहर तथा भीतर से मूर्च्छित, (२) बाहर से जागृत परन्तु भीतर से मूर्च्छित तथा (३) बाहर तथा भीतर दोनों में ही जागृत। कहानियों के माध्यम से कठिन धार्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों को सहज बनाने की विधि सराहनीय है। पुस्तक की रूपरेखा एवं छपाई सुन्दर है। इसके लिए लेखक और प्रकाशक को बधाई है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिर्गमय, लेखक-महोपाध्याय ललित प्रभ सागर, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउंडेशन, ९सी एस्प्लानेड रो (ईस्ट), कलकता-६९, पृ० ७६, मूल्य-१० रुपए।

प्रस्तुत रचना 'ज्योतिर्गमय' में सात शीर्षक हैं जिन पर रचनाकार चिन्तन किए हैं— ध्यान, आत्मबोध का आयाम, आनन्द की तलाश, स्वयं स्पर्श, ऊर्जा की सघनता, भीतर की चाँदनी, अन्तर-शुद्धि : जीवन मुक्ति, सत्य, शान्ति और सहजता। पुस्तक के नाम से ही यह अनुमान हो जाता है कि यह ज्ञान-प्रकाशिका है। इसमें मृत्यु की चर्चा करते हुए कहा गया है— 'जिसे हम सर्वथा झूठ कह सकते हैं वह सिर्फ मुत्यु ही है। दुनिया का एक झूठ है मृत्यु, क्योंकि मृत्यु कभी होती नहीं। मृत्यु दिखने में सत्य, पर हकीकत में असत्य।' व्यवहार में तो यही कहा जाता है कि मृत्यु निश्चित है जो निर्धारित देश और काल में होती है। जन्म निश्चित नहीं होता परन्तु मृत्यु अवश्यम्भावी होती है। लेखक ने जो कहा है व जीव की दृष्टि से है। जीव कभी मरता नहीं। व्यवहार में शरीर को नष्ट होते हुए देखने के बाद यह धारणा बनी कि मृत्यु होती है। शरीर का त्याग ही तो मृत्यु है। मुक्ति देहातीत स्थिति होती है किन्तु उसकी प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक व्यक्ति भीतर के निजानन्द स्वरूप को नहीं पहचानता है। पुनः सत्य, शान्ति और सहजता को आध्यात्मिक संस्कृति के बहुमूल्य रत्न के रूप में प्रकाशित करते हुए लेखक ने यह कहा है— इनके बिना न अध्यात्म में गहरे उतर सकोगे, न ही नैतिक मूल्यों की जीवन में स्थापना कर सकोगे।' इनके अलावा इस छोटी सी पुस्तक में लेखक ने अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक तत्त्वों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो सराहनीय है, पठनीय है। पुस्तक की बाह्याकृति आकर्षक है। आशा है धर्म-दर्शन में रुचि लेने वाले लोग इसका स्वागत करेंगे।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

सम्बोधि के दीप, लेखक-श्री चन्द्रप्रभ, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउण्डेशन, ९सी एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता-६९।

'सम्बोधि के दीप' में सम्बोधि की व्याख्या करने का प्रयास हुआ है। इसमें संबोधि-सूत्र, ध्यान : निजता की पहचान, भीतर की लिखावट, सम्बोधि ध्यान के चरण, क्या मिलेगा ध्यान से, शीर्षकों के अन्तर्गत 'सम्बोधि' को स्पष्ट किया गया है। सम्बोधि सूत्र में कहा गया है— **''शान्त हुई मन की दशा, जगा आत्म विश्वास। सारा जग अपना हुआ, आँखों भर आकाश''**। सम्बोधि तब प्राप्त होती है जब चञ्चल मन शान्त हो जाता है, उसकी दृष्टि आकाश जैसी विस्तृत हो जाती है। आँखों के बाहर, जितना विराट विश्व है, उतना ही विराट् विश्व आँखों के भीतर बसा हुआ है। सचमुच सम्बोधि प्राप्ति के लिए भीतर का संसार ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिए तो साधक अपने इन्द्रियों को कछुए की तरह, अन्दर की ओर समेटता है। बाहरी गति को रोकने से ही भीतरी गति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवाहित होती है। "जीवन सबसे ऊँचा है, पर उससे भी ऊँचा, वे मूल्य हैं, जिन्हें आत्मसात् करने के लिए व्यक्ति को निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह लेखक ने आध्यात्मिक पक्षों को उजागर किया है। इसके लिए लेखक साधुवादार्ह है। पुस्तक की रूपरेखा सुन्दर है। आध्यात्म प्रेमी पाठक इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

लघुत्रयी मंथन सम्पादक-डॉ० जयकुमार जैन एवं पं० अरुण कुमार शास्त्री, प्रकाशक-सकल दिगम्बर जैन समाज, सेठ जी की नशिया, ब्यावर (अजमेर, राजस्थान) प्रथम संस्करण १९९५, मूल्य-सत्तर रुपये मात्र।

महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज द्वारा रचित लघुत्रयी **(सुदर्शनोदय, दयोदय, समुद्रदत्त)** पर आयोजित **'आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी'** में अनेक विद्वानों द्वारा विविध शोधपत्रों का प्रस्तुतीकरण किया गया। विभिन्न विद्वानों ने विविध विषयों को लेकर जो अपने बुद्धि का मन्थन किया उसी के परिणाम से निकले नवनीत का संग्रह इस **'लघुत्रयी-मंथन'** नामक पत्रिका में किया है। वैसे तो पत्रिका का विहगवेक्षण करने से यही प्रतीत होता है कि विद्वान् सम्पादकों ने पत्रिका में उन्हीं निबन्धों को समाविष्ट किया है जो छात्रोपयोगी अथवा समाजोपयोगी हैं, फिर भी उन्होंने आचार्य श्री के निष्कर्ष को संकलित कर इसमें जो स्थान दिया है वह अंश पत्रिका के महत्त्व को मात्र बढ़ाता ही नहीं बल्कि समाज को उद्बोधित करने में भी सहायक है। इसके लिए सम्पादकद्वय बधाई के पात्र हैं। पत्रिका में प्रकाशित छाया चित्र भी इसकी उपयोगिता को बढ़ाने में सहायक है। आकर्षक आवरण में तैयार की गयी इस पत्रिका का मुद्रण सुन्दर एवं निर्दोष है। उक्त सभी तथ्यों को स्मरण कर पत्रिका संग्रहणीय है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

सागर मन्थन, लेखक-आचार्य श्री विद्यासागर जी, प्रकाशिका-श्रीमती पुष्पा देवी, द्वारा-श्री सुभाषचन्द्र जैन, मै० गुरदयाल मल चिरंजीलाल जैन, चाँद मार्केट, खजांचियान, हिसार-१२५००। (हरियाणा), पृ०-३६०, कीमत-पठन-चिन्तन-मनन।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'सागर मन्थन' के रचयिता आचार्य श्री विद्यासागर जी वर्तमान जैन जगत् के जाने-माने आचार्य एवं चिन्तक है। कर्नाटक प्रदेश में जन्मे हुए तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्र से आये हुए आचार्य श्री ने हिन्दी भाषा पर जिस तरह अधिकार प्राप्त कर लिया है, साधना के क्षेत्र में भी उनकी उसी तरह की पैठ है। वे साधक और चिन्तक के अतिरिक्त कवि भी हैं। उनकी रचनाएं संस्कृत एवं हिन्दी के साथ-साथ प्राकृत, बंगला, अंग्रेजी तथा कन्नड़ में भी मिलती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सागर मन्थन' में कुल चौबीस शीर्षक हैं, जिसमें दर्शन, धर्म, आचार आदि विश्लेषित हैं। इसमें हनुमान को परम पुरुष भगवान् के रूप में विवेचित किया गया है। क्योंकि वे न्याय के पक्षधर थे। उन्होंने सब कुछ त्यागकर अन्त में दिगम्बरत्व धारण किया था अर्थात् वे महान् त्यागी थे। इसी शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है— ''धर्म की सही-सही पहचान हमें हो जायेगी उसी दिन भक्त और भगवान् की बीच की दूरी समाप्त हो जायगी।'' यह विचार अद्वैतवेदान्त के अभेदवाद से साम्य रखता है। क्योंकि उसमें ज्ञान की प्राप्ति की स्थिति को आत्मा-परमात्मा की अभेद स्थिति या ब्रह्मलीन स्थिति माना गया है। इसमें जैन तत्त्वमीमांसा एवं आचार मीमांसा को सूत्र रूप में बताते हुए कहा गया है कि जैन दर्शन का बृहद अनेकान्त है और अनेकान्त का हृदय है समता। 'चलती चक्की देखकर-'' शीर्षक में कबीर की उक्ति पर विचार किया गया है कि संसार में जन्म-मरण रूपी दो पाटों के बीच सभी पिसते रहते हैं, सभी सुख की बाधा तथा दु:ख के भय से ग्रस्त होते हैं, यह संसारी जीवों की सबसे बड़ी समस्या है। किन्तु इसके साथ ही कमाल द्वारा बताए गए तरीके को भी महत्त्व दिया गया है। जो व्यक्ति धर्म रूपी कील के सहारे अपने को पार कर लेगा वह साबुत बच जाएगा। धर्म सभी दु:खों को दूर करने वाला होता है। इसी तरह इस ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य, दान, उपकार, अर्हत् भक्ति, जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक, मोक्ष कल्याणक आदि के वर्णन हैं। चूँकि यह ग्रन्थ एक जैनाचार्य के द्वारा रचित है जो अनीश्वरवाद में विश्वास करते हैं, इसलिए इसमें व्यक्ति को आत्मवादी तथा कर्मवादी बनने का उपदेश दिया गया है। राम, सीता और हनुमान के विषय में जो बातें कही गई हैं वे पउमचरिउं यानी जैन रामायण के आधार पर कही गई हैं जिनसे ब्राह्मण परम्परा के पाठक सहमत नहीं होंगे। परन्तु अपनी-अपनी मान्यताओं को लेकर उलझने के बजाय उन बातों को महत्त्व देना अच्छा होगा जो मानव जीवन के लिए कल्याणकारी हैं। अपने विषय की दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। इसका स्वागत जैन एवं जैनेतर विद्वान् करेंगे, ऐसा विश्वास होता है। पुस्तक की छपाई एवं साज-सज्जा आकर्षक है। इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही साधुवादार्ह हैं।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

स्वरूप सम्बोधन-पञ्चविंशति, सम्पादक-डॉ० सुदीप जैन, प्रकाशक-पं० अरुण कुमार शास्त्री, सचिव शास्त्रप्रचार व प्रसार विभाग, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा-अलवर (राजस्थान), पृ० ५८, मूल्य-१५ रुपए।

स्वरूप सम्बोधन-पञ्चविंशति आचार्य अकलंकदेव की रचना है। प्राय: अकलंक देव को न्याय के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया गया है, बल्कि जैन न्याय को अकलंक न्याय के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्त्वमीमांसीय विवेचन की ही बहुलता है। आत्मा, मोक्ष, मोक्षमार्ग आदि इसमें स्पष्टत: विश्लेषित हैं। मोक्षमार्ग के रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र के अतिरिक्त पुरुषार्थ की भी चर्चा है। इस तरह यह ग्रन्थ आकार की दृष्टि से छोटा होते हुए भी जैन दर्शन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे कम समय में ही जैन धर्म दर्शन की बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं।

सागरनुं बिन्दु, संकलनकर्ता-डॉ० सुरेशचन्द्र सौभाग्यचन्द झवेरी, प्रकाशक नव-दर्शन संघ, पार्श्वनाथ कोमलेक्ष, जैन पाठशाला, कैलाशनगर के पास, सगरामपुरा, सुरत, पृ०-३०८, कीमत-५०.००।

प्रस्तुत पुस्तक में आचारांग सूत्र, भगवती सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, समयसार, तत्त्वार्थसूत्र, जैनदर्शन तत्त्व प्रवेश आदि से विभिन्न दार्शनिक तथ्यों को संकलित किया गया है। संकलित विषयों में लोक, ईश्वर, द्रव्य, पुद्गल-परमाणु, बन्ध, मोक्ष, सम्यक् दर्शन, गुण स्थान, लेश्या, अनेकान्त आदि हैं। पुस्तक गुजराती भाषा में है इसलिए गुजराती भाषी लोगों को अङ्ग, उपाङ्ग, सूत्र आदि में विवेचित महत्त्वपूर्ण बातें आसानी से इस संकलन से मिल सकती हैं। इस पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें लोकों के भी वर्णन प्रस्तुत किए गए हैं। अत: यह सिर्फ धर्म-दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए ही नहीं बल्कि भूगोल-खगोल में रुचि रखने वालों के लिए भी उपादेय है।

डॉ० सुरेश झवेरी ने, एक चिकित्सक होते हुए भी, धर्म-दर्शन के क्षेत्र में यह काम करके अन्य लोगों को उत्साहित किया है। इसके लिए वे साधुवादार्ह हैं। पुस्तक की बाहरी रूप रेखा एवं मुद्रण सुन्दर है। आशा है जैन विद्या के जिज्ञासुओं के द्वारा यह पुस्तक सम्मानित होगी।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

वाग्दीक्षा : स्वरूप एवं महत्त्व, लेखक-डॉ० सुदीप जैन, प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, टाईपसेटिंग : प्रिण्टैक्सल, नई-दिल्ली, पृ०-३६, मूल्य २.५०।

'वाग्दीक्षा : स्वरूप एवं महत्त्व' एक पुस्तिका है। किन्तु इसका विषय कुछ ऐसा है जो सम्भवत: अधिक लोगों के समक्ष नहीं पहुँच पाया होगा। अतएव लेखक ने इस विषय को विवेचित करके एक अच्छा काम किया है। 'वाग्दीक्षा' का अर्थ होता है 'मुखशुद्धि'। मुखशुद्धि का प्रचलित अर्थ है भोजनोपरान्त सुपारि आदि ग्रहण करके मुख को शुद्ध या साफ करना। 'मुख शुद्धि' का सामान्य अर्थ तो मुख को शुद्ध करना ही होता है लेकिन सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए मुख-शुद्धि को समझना उचित है। यहाँ जिस मुखशुद्धि का विवेचन हुआ है वह है उपदेश देने हेतु मुख की शुद्धि यानी बोलने की क्षमता, स्पष्ट भाषण करने की क्षमता, साथ ही विषय प्रतिपादन की कुशलता और विषय प्रवेश की गहनता। पहले कोई भी आचार्य अपने शिष्य को तभी उपदेश देने की स्वीकृति देते थे जब उसमें ये सभी गुण होते थे। दरअसल वाग्दीक्षा या मुखशुद्धि का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शाब्दिक अर्थ तो मुख की शुद्धि है किन्तु इस अर्थ में मन और मस्तिष्क की शुद्धियाँ भी सन्निहित हैं। आचार्य विद्यानन्द मुनि द्वारा प्रस्तुत **अक्षर पुञ्ज** से इस पुस्तिका का महत्त्व और बढ़ जाता है।

डॉ० सुदीप जैन का यह प्रयांस सराहनीय है। वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तिका का मुद्रण तथा बाहरी रूपरंग सुन्दर हैं। आशा है वाग्दीक्षा पढ़कर पाठकों को प्रसन्नता होगी।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

हूमड़ जैन समाज का सांस्कृतिक इतिहास (भाग-१) प्रधान सम्पादक-डॉ० रामकुमार गुप्त, प्रकाशक-श्री हूमड़ जैन इतिहास शोध समिति, १,सुदर्शन सोसायटी, नारणपुरा, अहमदाबाद-३८००१३, पृ०-२९६, मूल्य-१५०।

हूमड़ जैन समाज का सांस्कृतिक इतिहास, यह नाम ही बताता है कि इसमें विवेचित विषय का प्रतिपादन हूमड़ जैन समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करने के उद्देश्य से हुआ है। इसी सिलसिले में ईडर की पहाड़ी, खेड़ब्रह्मा, राजा वेणीवत्स आदि की चर्चाएं है। किन्तु विशेष रूप से हूमड़ जाति-उत्पत्ति को महत्त्व दिया गया है। लाड क्षत्रियों ने होम द्वारा आयुध त्याग दिया और वे होमायुध (होम+आयुध) कहलाए। कालान्तर में होमायुध शब्द होबाउए, होवाउड्ड, होबाड्ड, हूँबड्ड, हूँबड तथा हूँमड के रूप में आ गया। लाड हूमड़ जैन धर्मानुयायी थे। हूमड़ शब्द की व्युत्पत्ति सम्बन्धी एक अन्य मत यह हैं कि बिहार प्रान्त के सूह्य नगर में दिगम्बर साधु रहते थे। वे विहार करते-करते गुजरात पहुँच गए और खेडबह्मा में रहने लगे। वहाँ लाडवणिक रहते थे जिन्होंने जैन साधुओं से प्रभावित होकर जैन धर्म स्वीकार किया तथा हूमड़ बन गए। इस तरह यह पुस्तक ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करने के प्रयास में गतिशील है। आशा है यह विभिन्न खोजों के आधार पर हूमड़ समाज का इतिहास स्थापित करके जैन-इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ने में सफल होगी। इसके सभी सम्पादक इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए बधाई के पात्र हैं। पुस्तक का मुद्रण एवं बाह्याकार अच्छा है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

भारतीय संस्कृति साहित्य में जैन धर्म का योगदान, सम्पादक-डॉ० सुदर्शन लाल जैन एवं अन्य, प्राप्ति स्थान-डॉ० सुदर्शन लाल जैन १, सेंट्रल स्कूल कॉलोनी, का०हि०वि०वि० वाराणसी-५, प्रथम संस्करण १९९६, पृ०-१३२, आकार डिमाई, मूल्य-२०० रुपये।

अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् द्वारा प्रकाशित 'भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जैन धर्म का योगदान' नामक स्मारिका पच्चीस निबन्धों का एक संग्रह है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसे विषय की दृष्टि से तीन विभिन्न भागों में विभाजित किया गया है। इसके प्रथम भाग में इतिहास है, जिसमें वैदिक संस्कृति से लेकर आधुनिक परिवेश तक के विचारों का शोधात्मक दृष्टि से दिशा-निर्देश है। द्वितीय भाग में साहित्य, सङ्गीत एवं कलाविषयक आठ आलेख हैं। जिनसे कला एवं साहित्य के क्षेत्र में किए गए महत्त्वपूर्ण प्रयासों का पता चलता है एवं तृतीय भाग में प्रतियोगिता में पुरस्कृत उन चार आलेखों को सम्मिलित किया गया है, जो अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् द्वारा अपने स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के अवसर पर अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित प्रतियोगिता में पुरस्कृत किए गए हैं। स्मारिका में प्रकाशित पुरस्कृत लेखों के अतिरिक्त भी अनेक लेख ऐसे हैं जो प्रशंसनीय हैं, यथा- जैन श्रमण संस्कृति की प्राचीनता, वैदिक पुराणों में ऋषभ वर्णन, भगवान् आदिनाथ, भारतीय संस्कृति के सूत्रधार शिवस्वरूप ऋषभदेव, राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म का योगदान आदि।

प्रस्तुत कृति के अध्ययन से सामान्यजनों को एवं शोधार्थियों को तथा जैन धर्म दर्शन के प्रति जिनका अनुराग है उनके लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। इसका सम्पादन, प्रूफ संशोधन, एवं मुद्रण कार्य भलीभाँति किया गया है। पुस्तक का आवरण सुन्दर है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

श्री भक्तामर विधान - राजमल पवैया, प्रकाशक-भरत पवैया, प्रथम संस्करण-वीर सं०२५२२, मूल्य-सोलह रुपये, पृष्ठ-१३६, आकार-डिमाई।

आचार्य मानतुंग द्वारा रचित **भक्तामर** काव्य एक भक्तिप्रधान काव्य है। इसी भक्तामर काव्य को रुचिकर बनाने के लिए विधान पूजन के साथ भक्तामर के दो और पूजन भी जोड़ दिए गए हैं। साथ ही ऋषभदेव पूजन, ऋषभ जयन्ती पूजन और ऋषभदेव सम्बन्धी अक्षय तृतीया पूजन एवं अष्टापद कैलाश पूजन देकर इसे उपयोगी बनाया गया है। इसके बीजाक्षर एवं ध्यानसूत्र महाराष्ट्र की क्षुल्लिका श्री सुशीलमति जी एवं सुव्रता जी द्वारा रचे गए हैं। मुमुक्षु साधकों के लिए पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक की निर्दोष छपाई के लिए मुद्रक एवं सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

नवनीत, ऋषि प्रकाशन, झाँसी, प्रथम संस्करण १९९६, मूल्य-१५, आकार-डिमाई, पृष्ठ-७४।

मुनि श्री क्षमासागर जी, ऐलकद्वय श्री उदारसागर जी एवं सम्यक्त्व सागर जी की पुनीत उपस्थिति में करगुवाँ जी झाँसी में जैन विचार संगोष्ठी का संयोजन किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें धर्म को विज्ञान से एवं विज्ञान को धर्म से जोड़ने का एक स्तुत्य प्रयास किया गया है। चूँकि इस पुस्तक में देश के जाने-माने विद्वानों के लेख संकलित हैं इसलिए नए शोधार्थियों के लिए भी यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय हो जाती है।

पुस्तक का मुद्रण कार्य निर्दोष है एवं साज-सज्जा आकर्षक है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

●

प्रर्युषण पर्व पर विशेष

मानवधर्म के दशलक्षण

क्षमा धर्म का मर्म है, मानवता की शान ।
मार्दव मान का त्याग है, विनय से बनें महान् ।।
आर्जव से ऋजुता मिले, छल-कपट की हान ।
सत्यमेव जीवन भला, है धर्म का प्रान ।।
शौच लोभ को मेंटता, संतोष सुख की खान् ।
संयम से हर व्रत पलें, श्रावक-मुनि पहचान ।।
त्याग से आवै आत्मबल, और धर्म का ज्ञान ।
तप पालें श्रावक सुधी, अपनी शक्ति प्रमान ।।
अकिंचन से सब मिले, रत्नत्रय गुण खान ।
ब्रह्मचर्य के तेज से, मिले मुक्ति का धाम ।।
धर्म के दशलक्षण रतन, धारैं जो पुण्यवान् ।
इस भव से सब दुःख नशैं, परभव बने महान् ।।

श्रीमती डॉ० मुन्नी जैन
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

जैन जगत्

नि:शुल्क विकलांग शिविर का आयोजन

दिगम्बर जैन महासमिति द्वारा शीघ्र ही महावीर वाटिका, दरियागंज, नई दिल्ली में नि:शुल्क विकलांग शिविर का आयोजन किया जा रहा है। इसमें विकलांग व्यक्तियों को कृत्रिम अंग प्रदान किये जायेंगे। विकलांग व्यक्ति अपना नाम और पता **दिगम्बर जैन महासमिति, श्रीखण्डेलवाल दि० जैन मन्दिर, शिवाजी स्टेडियम, कनाट प्लेस, नई दिल्ली ११०००१** पर भेजें। जो संस्थायें विकलांग व्यक्तियों के उत्थान में कार्यरत हैं, यदि उनके पास विकलांग व्यक्तियों के नाम व पते हैं तो वे भी इनका विवरण उपर्युक्त पते पर भेज कर इस शिविर को सफल बनाने में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करें जिससे अधिक से अधिक विकलांग व्यक्ति इस शिविर से लाभान्वित हो सकें।

प्रो० सागरमल जैन का महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ में व्याख्यान

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के तत्त्वावधान में **सर्वधर्मसमभाव : राष्ट्रीय व्याख्यानमाला** के अन्तर्गत १ जून १९९६ को सायंकाल ६ बजे पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन का व्याख्यान आयोजित किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता वहाँ के कुलपति प्रो० रामकुमार त्रिपाठी ने किया। इस सुअवसर पर बड़ी संख्या में विभिन्न धर्मों के विद्वान्, प्राध्यापक तथा छात्र उपस्थित रहे। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय की इस सुअवसर पर उपस्थिति विशेष उल्लेखनीय रही।

जैन एकता महामण्डल का द्वितीय अधिवेशन सम्पन्न

मुम्बई १४ जून : जैन एकता महामण्डल, मुम्बई का द्वितीय अधिवेशन दिनांक १४ जून को मुम्बई के गोवालिया टैंक स्थित तेजपॉल हॉल में आयोजित किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता श्री मोफतराज मुणोत ने की। इस समारोह में सेबी के अध्यक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री डी०आर०मेहता मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। इस अवसर पर डॉ०आर०सी०भंसाली, एन०सी०जैन, एच०सी०पारेख, श्री किशोर एम०वर्धन, श्री शान्ति प्रसाद जैन, श्री मंगलप्रभात लोढा आदि अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित रहे।

इस कार्यक्रम में १०० से ऊपर उपवास करने वाले तपस्वियों तथा समाज के विशिष्ट समाजसेवियों को सम्मानित किया गया। इसी सन्दर्भ में जैनसमाज की चार प्रमुख पत्रिकाओं **जैन जगत, जैन जागृति, महावीर मिशन** और **कल्याण** को **जैन एकता साहित्य पुरस्कार १९९५** भी प्रदान किया गया।

आचार्य देवेन्द्रमुनि जी महाराज का तिहाड़ जेल में प्रवचन

दिल्ली, २ जुलाई : मास्टर श्रीपाल जैन तथा जेल के अधिकारियों के निवेदन पर आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी महाराज कैदियों को उपदेश देने के लिये तिहाड़ जेल में पधारे। यहाँ उन्होंने अत्यन्त सरल किन्तु मार्मिक उद्‌बोधन में उन्हें सत्संग का महत्त्व बतलाया और दुर्गुणों से बचने तथा एक अच्छे नागरिक की तरह जीवन जीने के लिए संकल्प लेने की प्रेरणा दी। आचार्य श्री की सत्प्रेरणा से ८०० से ज्यादा कैदियों ने व्यसन मुक्त जीवन जीने की प्रतिज्ञा की और प्रतिज्ञा पत्र भरा। इस अवसर पर श्री रमेश मुनि जी, श्री दिनेश मुनि जी, श्री आलोक मुनि जी तथा जैन समाज के अनेक गणमान्य व्यक्ति भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

डॉ० सुधा जैन को हार्दिक बधाई

लाडनूँ, राजस्थान निवासी श्री सोहनलाल धनराज जी जैन की सुपुत्री श्रीमती सुधा जैन को उनके शोध-प्रबन्ध **''जैनयोग एवं बौद्धयोग का तुलनात्मक अध्ययन''** पर जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (मान्य विश्वविद्यालय) द्वारा जुलाई १९९६ में पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की गयी। उक्त संस्था की आप प्रथम पी-एच०डी० हैं।

सम्प्रति डॉ० सुधा जैन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के 'तनाव प्रबन्धन, स्वास्थ्य एवं योग विभाग' में तदर्थ प्रवक्ता के पद पर कार्यरत हैं। डॉ० सुधा जैन को पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल्यपरक शिक्षा प्रशिक्षण कार्यक्रम सम्पन्न

५ अगस्त, १९९६ को गाँधी विद्या संस्थान राजघाट में मूल्यपरक शिक्षा का प्रशिक्षण कार्यक्रम सम्पन्न हो गया। इस अवसर पर आहूत संगोष्ठी के प्रथम उद्घाटन सत्र में सर्वप्रथम डॉ० ललित मोहन चंदोला ने समागत विद्वानों का स्वागत किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए अपने उद्बोधन में मूल्यपरक शिक्षा के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला। प्रो० सुरेन्द्र वर्मा, विभागाध्यक्ष, अहिंसा, शांति शोध एवं मूल्य शिक्षा विभाग, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने मुख्य वक्ता के रूप में अपना सारगर्भित वक्तव्य दिया। अध्यक्षीय उद्बोधन प्रो० सत्येन्द्र त्रिपाठी, समाजशास्त्र विभाग, का० हि० वि० वि० ने दिया एवं प्रो० शुएब ने अन्त में संगोष्ठी में पधारे सभी विद्वानों के प्रति आभार ज्ञापित किया।

मुनि श्री क्षमासागर जी महाराज का चातुर्मास इन्दौर में

इन्दौर, १६ अगस्त, तप त्याग और भक्ति से परिपूर्ण चातुर्मास के पावन अवसर पर आयोजित प्रेस वार्ता में श्रमण संस्कृति के प्रखर संत आचार्य विद्यासागरजी महाराज के परम शिष्य मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज जिनका इन्दौर में प्रथम चातुर्मास है ने पत्रकारों को सम्बोधित किया, आपके साथ ऐलक श्री उदारसागरजी एवं ऐलक महाराज श्री सम्यक्त्व सागरजी ने भी में इसमें भाग लिया।

समवशरण मंदिर परिसर में मुनि एवं संघ विराजमान है और इसी पावन स्थली में संघ का चातुर्मास पूरी भव्यता और धार्मिक जागरण के साथ प्रारम्भ हो गया है। व्यावहारिक शिक्षा में एम० टेक० मुनिश्री क्षमासागरजी महाराज देश के प्रखर तपस्वी हैं।

पत्रकार वार्ता में चातुर्मास सेवा समिति के चेयरमैन श्री सुन्दर लाल जैन एवं संयोजक द्वय श्री अशोक डोसी तथा प्रदीप कासलीवाल ने बताया कि वर्षायोग के अवसर पर मुनि संघ के सानिध्य में कई विशिष्ट कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है। "करुणा दिवस" (भगवान् नेमीनाथ का दीक्षा कल्याण) २० अगस्त, भगवान् पार्श्वनाथ निर्वाण दिवस (मोक्ष सप्तमी) २१ अगस्त, आचार्य शांति सागर समाधि दिवस १४ सितम्बर, भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव ११ नवम्बर को आयोजित किए जा रहे है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में मासिक संगोष्ठी आयोजन-योजना प्रारम्भ

विगत दिनों विद्यापीठ के प्राङ्गण में विद्यापीठ के प्रबन्ध मण्डल के संयुक्त सचिव माननीय श्री इन्द्रभूति बरड़ जी, न्यूकेम लिमिटेड, फरीदाबाद की उपस्थिति में विद्यापीठ के शिक्षकवर्ग, और शोध छात्रों द्वारा नियमित रूप से मासिक संगोष्ठी में शोधपत्र प्रस्तुत करने का निर्णय लिया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी क्रम में जुलाई और अगस्त मास में दो संगोष्ठियाँ आयोजित की गईं। जुलाई मास में आयोजित संगोष्ठी में प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग के वरिष्ठ प्रवक्ता, डॉ०अशोक कुमार सिंह ने **'दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति का छन्दों की दृष्टि से अध्ययन समानान्तर गाथाओं के सन्दर्भ में'** विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया।

इस संगोष्ठी की अध्यक्षता संस्थान के निदेशक प्रो०सागरमल जैन ने की और विशेष वक्तव्य प्रो०सुरेशचन्द्र पाण्डे, अध्यक्ष प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, ने दिया। अगस्त माह में आयोजित मासिक संगोष्ठी में दो शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। प्रथम पत्र जैन धर्म एवं दर्शन विभाग के प्रवक्ता डॉ०श्रीप्रकाश पाण्डेय ने **'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण'** विषय पर प्रस्तुत किया और दूसरा पत्र डॉ० अशोक कुमार सिंह ने **'निक्षेप सिद्धान्त और निर्युक्ति साहित्य'** विषय पर प्रस्तुत किया। संगोष्ठी की अध्यक्षता डॉ०रतनचन्द्र जैन, रीडर प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग तथा विशेष वक्तव्य प्रो०सागरमल जैन ने दिया।

मासिक संगोष्ठी में प्रस्तुत किये गये शोधपत्र श्रमण में प्रकाशित किये जायेंगे।

प्रो० सागरमल जैन विदेश यात्रा पर

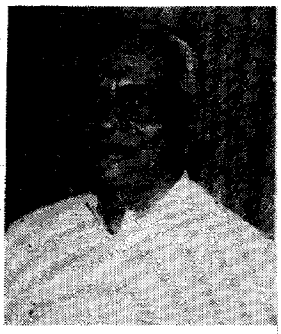

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के लिए यह अत्यन्त गर्व का विषय है कि Federation of Jain Associations In North America ने विद्यापीठ के निदेशक प्रो०सागरमल जैन को अमेरिका के विभिन्न नगरों में जैनधर्म एवं दर्शन के विविध पक्षों पर व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया है। प्रो०जैन ने २७ अगस्त को नई दिल्ली से अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। अपने अमेरिका प्रवास में वे २८ अगस्त से ५ अक्टूबर तक सेन्टलुइस, सिन्सेनाटी, पिट्सवर्ग, टोरन्टो, डलास, न्यूयार्क आदि कई स्थानों पर अपने व्याख्यान प्रस्तुत करेंगे तथा अनेक कार्यक्रमों में भाग लेंगे। ८ अक्टूबर तक उनके स्वदेश लौटने की सम्भावना है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में पं० फूलचन्द्र शास्त्री व्याख्यानमाला सम्पन्न

३१ अगस्त, श्री गणेशवर्णी दिगम्बर शोध संस्थान, नरिया-वाराणसी द्वारा आयोजित 'स्व०पं०फूलचन्द्र शास्त्री स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत **षट्खण्डागम का भाषावैज्ञानिक अध्ययन** विषय पर सुप्रसिद्ध भाषाविद् और कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषा-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो०सत्यरंजन बैनर्जी के व्याख्यान का द्वितीय सत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में सम्पन्न हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता धर्म-आगम विभाग, प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष प्रो० कमलेश दत्त त्रिपाठी ने किया। इस अवसर पर जैन विद्या के बहुश्रुत विद्वान् प्रो० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर; प्रो० राजाराम जैन, अध्यक्ष-कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली; डॉ० अशोक कुमार जैन, प्रो० भौतिकी विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय; डॉ० नन्दलाल जैन, रीवा; डॉ० प्रेमचन्द्र जैन, नजीबाबाद; डॉ० सुदर्शन लाल जैन, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि अनेक विद्वान् बड़ी संख्या में उपस्थित थे। डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ने अतिथियों के सम्मान में स्वागत भाषण दिया। विद्यापीठ के उपनिदेशक प्रो० सुरेन्द्र वर्मा ने आगन्तुक अतिथियों का स्वागत किया तथा उन्हें संस्थान के गतिविधियों की जानकारी प्रदान की। अन्त में प्रो० वर्मा ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

सम्पूर्ण व्यवस्था विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने की जिसकी सभी ने सराहना की।

आचार्य श्री शांतिसागर महाराज का ४१वां समाधि दिवस मनाया गया

दिगम्बर जैन समाज, इन्दौर, चातुर्मास समिति के तत्त्वाधान में, परम पूज्य मुनिश्री क्षमासागरजी महाराज एवं एलकद्वय श्री उदारसागरजी तथा सम्यक्त्वसागरजी के सान्निध्य में **मुनिमार्ग के पुनर्स्थापक चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का इकतालीसवां समाधि दिवस,** १४ सितम्बर, शनिवार को, समवशरण मंदिर कंचनबाग में धर्माचरण के साथ उल्लासपूर्वक मनाया गया।

समाधि दिवस की इस सभा का शुभारंभ **प्रो० कमल कुमार वेद** के आध्यात्मिक पद से हुआ। आचार्य श्री शांतिसागरजी के चित्र का अनावरण **श्री सुन्दरजालजी जैन (बीड़ीवाले)** ने किया एवं दीप प्रज्जवलन **श्री धनराजजी कासलीवाल** ने किया।

श्री दीपचंदजी छाबड़ा, पं० श्री रतनलालजी शास्त्री, कमलाबाई पांड्या माँ साहिबा एवं पद्मश्री श्री बाबूलालजी पाटोदी ने अपनी विनयपूर्वक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए सभी को सम्बोधित किया एवं अनेकों संस्मरणों से आचार्यश्री की प्रत्यक्षता का आभास कराया।

श्री पाटोदी ने कहा कि इन्दौर में तिलोकचंद जैन हाईस्कूल में उनके दर्शन एवं सान्निध्य का अवसर प्राप्त हुआ। वे सचमुच अद्भुत आचार्य संत थे। **सुश्री कमलाबाई माँ साहब** ने कहा कि आचार्यश्री के समाधि अवसर पर उनके दर्शन का लाभ मिला, सम्यक्चारित्र के प्रत्यक्ष प्रमाण आचार्यश्री थे। **श्री रतनलालजी शास्त्री** ने कहा कि उन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष दर्शन का लाभ नहीं मिला परन्तु उनके जीवन-चरित्र से आत्मसात् होने का अवसर मुझे मिला है।

दिगम्बर जैन समाज इन्दौर के **महामंत्री इंजी० जैन कैलाश वेद** ने सभा का संचालन करते हुए कहा कि, ऐसे महान् आचार्य संत ने नई पीढ़ी को अवगत कराना, दिगम्बर जैन संस्कृति के प्रादुर्भाव हेतु अत्यन्त आवश्यक है। उनके द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण-अनुमोदना अतिआवश्यक है।

श्री जैन श्वेताम्बर महासभा जयपुर का अनुकरणीय प्रयास

श्री श्वेताम्बर जैन महासभा, जयपुर ने समाज में व्याप्त आडम्बरों, कुरीतियों जैसे विवाह आदि अवसरों पर होने वाला अपव्यय को नियंत्रित करने के लिये प्रीतिभोजों में खाद्यपदार्थों की सीमा का निर्धारण, लहसुन-प्याज आदि का निषेध, सड़कों पर नाच-गानों, आतिशबाजी, फूलों की सजावट आदि पर पूर्णत: प्रतिबन्ध लगा दिया। आज जयपुर का जैन समाज इनका पूर्णत: अनुपालन कर रहा है।

महासभा के अधिकारियों की भावना है कि अन्य स्थानों के लोग भी सम्पूर्ण श्वेताम्बर समाज का एक संगठन बनाकर समाज उत्थान एवं जैन एकता को परिपुष्ट करने की दृष्टि से महासभा का गठन करें। इस सन्दर्भ में महासभा हर सम्भव सहयोग देने के लिये तत्पर है।

मुफ्त प्राप्त करें

जैनागम नवनीत प्रश्नोत्तर नामक पुस्तक एक रुपये का डाक टिकट भेजकर ३० नवम्बर, ९६ तक निम्नलिखित पते से प्राप्त करें।

श्री हनुमान लाल
C/o स्थानकवासी जैन समाज,
भारत सोसायटी
Post-सुरेन्द्रनगर-३६३००१
गुजरात।

'भारत-भाषा-भूषण पुरस्कार'

कालिदास विरचित 'मेघदूतम्' के सरल एवं भावप्रवण पद्यानुवाद को अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन, भोपाल ने तेरह भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया है। इस महत्त्वपूर्ण पद्यानुवाद का सफल संयोजन श्री ए०एल० संचेती ने किया है। श्री संचेती के इस अवदान हेतु उन्हें अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता में सम्पन्न होने वाले बारहवें राष्ट्रीय अधिवेशन में भारत-भाषा-भूषण पुरस्कार से सम्मानित किया जाएगा। श्री संचेती को पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

पत्राचार अपभ्रंश सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम में प्रवेश सम्बन्धी सूचना

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित, अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा **पत्राचार अप्रभंश सर्टीफिकेट पाठ्यक्रम** का पाँचवा सत्र १ जनवरी १९९७ से प्रारम्भ हो रहा है। हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के प्राध्यापक, शोधार्थी एवं संस्थाओं में कार्यरत विद्वान् इसमें सम्मिलित हो सकेंगे। नियमावली एवं आवेदनपत्र १५ सितम्बर १९९६ तक अकादमी कार्यालय-दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर ३०२००४ से प्राप्त किये जा सकते हैं। आवेदन पत्र जमा करने की अंतिम तिथि १५ अक्टूबर १९९६ है।

धर्मों में सही अन्तर सहज समझदारी के आधार पर हो

डॉ०शिवप्रसाद सिंह
भू०पू०अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
का०हि०वि०वि०, वाराणसी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आचरण की सहजता बहुत ही विचारणीय आवश्यक वस्तु लगती है। इस जाति-पाँति संयुक्त और धर्म-अधर्म से दूषित जो परम्परा है उसका लेश मात्र भी प्रभाव उन्हें कभी चिन्तित नहीं करता था। उस दिन लगभग छः बजे सायंकाल जब मैं पहुँचा तो वे कुरता-धोती पहने अपने मकान के सामने टहल रहे थे। पास आया तो कहने लगे गंगा स्नान करने चलोगे? मैंने कहा कि—शाम को सात बजे? यह आपने कौन सा समय चुना नहाने का? कहने लगे चलो तो, चलते गये तो, उन्होंने कहा कि दो मिनट यहाँ आना। तो हम पार्श्वनाथ विद्याश्रम पहुँचे। वहाँ श्वेत वस्त्रावृता सरस्वती जैसे विजामान थे आचार्य कृष्णचन्द्र। बात होने लगी तो दो मिनट की जगह दो घण्टे चलती रही। लौटे वहाँ से तो कहले लगे— कैसा रहा गंगा स्नान? मैं सहज ही बोल पड़ा अद्भुत। एक ओर शास्त्र है भारतीयों का, मनुस्मृति है मनुवादियों की, उसमें लिखा है— 'न गच्छेत् जैन मन्दिरम्'। ये बताने वाले लोग यह नहीं जानते कि गोम्मटेश्वर की परी ऊँचाई कितनी है और उनका अभिषेक कैसे होता है? यही है सर्वधर्म समभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की तथाकथित मानसिकता! जबकि हर धर्म जो जीवित है वह श्रद्धा की ऊँचाई और निष्ठा की गहराई बताता है। इसलिये धर्मों में सही अन्तर वैमनस्य के आधार पर नहीं, सहज समझदारी के आधार पर हो सकता है।

शोक समाचार

डॉ० मधु सेन दिवंगत

जैन विद्या की विशिष्ट अभ्यासी और गुजरात विद्यापीठ 'अहमदाबाद के इतिहास एवं संस्कृति विभाग की प्रमुख तथा अन्तर्राष्ट्रीय जैन विद्या केन्द्र की नियामक डॉ० मधु सेन का दिनाङ्क १४/५/९६ को पूना में दुःखद निधन हो गया। आप पिछले कुछ माह से कैन्सर से गम्भीर रूप से पीड़ित थीं। ज्ञातव्य है कि स्व० मधु बहन ने **पार्श्वनाथ विद्यापीठ** से ही अपना शोधकार्य किया था। जैन विद्या के क्षेत्र में देश और समाज को उनसे अनेक अपेक्षायें थीं। उनके निधन से हुई क्षति की पूर्ति होना कठिन है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार अपनी पूर्व छात्रा और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् स्व०डॉ०मधु सेन को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

डॉ० जितेन्द्र बी० शाह को मातृशोक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व छात्र तथा प्राकृत भाषा और साहित्य के गहन अध्येता तथा शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद के नियामक डॉ० जितेन्द्र बी०शाह की पूज्य मातृश्री का पिछले दिनों अहमदाबाद में निधन हो गया। विद्यापीठ परिवार उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

शोक समाचार

अम्बाला : जैन जगत् के प्रसिद्ध समाजसेवी, धर्मपरायण सुश्रावक लाला ओमप्रकाश जैन का ७५ वर्षों की आयु में १-८-९६ को संक्षिप्त बिमारी के बाद स्वर्गवास हो गया। अम्बाला की प्रसिद्ध पी०के०जैन शिक्षा संस्था की स्थापना और उसके विस्तार में उनका अपूर्व योगदान रहा। उनके पुत्र श्री अरुण कुमार जैन पिता के पद चिन्हों पर चल रहे हैं। उन्होंने अपने पूज्य पिताश्री की स्मृति में २०१५०१ रुपयों की राशि दान आदि के लिये निकाल दिया है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार स्वर्गीय श्री ओमप्रकाश जैन को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.

ONLY NUWUD.®

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

DESIGN FLEXIBILITY

flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications

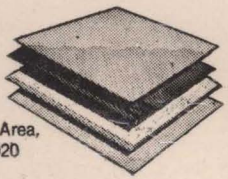

NUCHEM LIMITED

E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748

NUWUD MDF

The one wood for all your woodwork

IS: 12406

MARKETING OFFICES: • **AHMEDABAD:** 440672, 469242 • **BANGALORE:** 2219219 • **BHOPAL:** 552760 • **BOMBAY:** 8734433, 4937522, 4952648 • **CALCUTTA:** 270549 • **CHANDIGARH:** 603771, 604463 • **DELHI:** 632737, 633234, 6827185, 6849679 • **HYDERABAD:** 226607 • **JAIPUR:** 312636 • **JALANDHAR:** 52610, 221087 • **KATHMANDU:** 225504, 224904 • **MADRAS:** 8257589, 8275121

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org